स्थापित – 1992

श्री उत्कर्ष

I.A.S

हिन्दी माध्यम का अप्रतिम संस्थान

हिन्दी साहित्य

(द्वितीय प्रश्न–पत्र)

(खण्ड " क ")

आधुनिक कविता

1425, औट्रम लाइन, बी. बी. एम डिपो के सामन
किंग्जवे कैम्प, दिल्ली – 110009

Ph : 27659400, 9868448606

" श्री उत्कर्ष I.A.S "

हिन्दी साहित्य (द्वितीय प्रश्न-पत्र)

(खण्ड " क ")

आधुनिक कविता

1.	भारत - भारती	2 - 28
2.	कामायनी	29 - 74
3.	राम की शक्ति पूजा	75 - 89
4.	कुकुरमुत्ता	89 - 105
5.	कुरूक्षेत्र	106 - 133
6.	असाध्यवीणा	134 - 156
7.	ब्रह्मराक्षस	157 - 191
8.	नागार्जुन	192 - 214

भारत-भारती (मैथिलीशरण गुप्त)

श्री उत्कर्ष क्लासेज (रजि०) उत्कर्ष IAS Ph.2769400·IAS/PCS·9868448606

1. नवजागरण की चेतना और भारत-भारती
2. मैथिलीशरण गुप्त की काव्य चेतना
3. भारत-भारती की राष्ट्रीय चेतना
4. काव्यांश
5. मूल्यांकन

भारत-भारती

गुजराती के प्रसिद्ध साहित्यकार **उमाशंकर जोशी** ने अपने एक संस्मरण में **आधुनिक युग की गीता** के रूप में भारत-भारती का उल्लेख किया है। भारत-भारती हिन्दी की एक ऐसी कृति है जिसने भाषा की सरहदें पार कीं। हिन्दी भाषा के लिखित या मौखिक रूप से अवगत प्रत्येक भारतीय भारत-भारती से भी अवगत है। भारत-भारती को **हिन्दी की बिन्दी** भी कहा जाता है। यह पहली कृति है जिसने हिन्दी को अखिल भारतीय स्वरूप प्रदान किया। आलोचकों के अनुसार कोई भी कृति लोकप्रिय होने का जो सबसे बड़ा स्वप्न देख सकती है वह लोकप्रियता भारत-भारती ने हासिल की। भारत-भारती पर विचार करना स्वाधीनता आंदोलन के चरित्र, उसकी चिंताओं व उसके स्वरूप पर विचार करने जैसा है। इसलिए इस कृति की व्याख्या आधुनिक-भारतीय मनुष्य के मानस की व्याख्या है।

दरअसल आधुनिक भारतीय इतिहास के **नवजागरण** (पुनर्जागरण) की अनेक व्याख्यायें हैं। सर्वप्रथम इस शब्द का प्रयोग आधुनिक भारत में होने वाले व्यापक परिवर्तनों के संबंध में किया गया। 19वीं शती में होने वाले व्यापक परिवर्तनों को पुनर्जागरण कहा गया।

लेकिन पुनर्जागरण की एक पुनरुत्थानवादी दृष्टि भी है। इस दृष्टि के अनुसार पुनरुत्थान का अभिप्राय है उस वस्तु का जन्म जो कभी निर्दोष व संपूर्ण रूप में विद्यमान थी। अतीत की एक ऐसी व्याख्या जिसमें सभ्यता निर्दोष, परिपूर्ण थी उसे पुनरुत्थान कहा गया। (यथा - इटली में रिनेसा के दौरान रोम सभ्यता की मानकता को समय से जोड़ा गया)। पुनर्जागरण का अर्थ है नया आलोक, विश्व की ओर बढ़ने की क्रांतिकारी चेतना, रूढिग्रस्त विचारों व जीवन पद्धतियों से मुक्ति। इसीलिए भारत-भारती में पुनर्जागरण की चेतना की मीमांसा करते हुए यह देखना अपेक्षित है कि इस नवजागरण की कौन सी विचारधारा अधिक प्रबल है इसमें।

सामान्यतः नवजागरण की तीन चिंतायें हैं → अस्मिता बोध, जातीय श्रेष्ठता की चेतना, प्राचीन संस्कृति के गौरव की पुनर्स्थापना।

- आत्मता बोध
- आधीन भारत की व्याख्या की चिंता "श्री उत्कर्ष I.A.S."
- आधीन आधुनिकता की व्याख्या की चिंता

अस्मिताबोध का प्रश्न भारतीयता से जुड़ा है। **भारतेन्दु** ने कहा - **स्वत्व निज भारत गहै।** इसलिए 19वीं शती से 20वीं शती तक स्वत्व की चिंता नवजागरण की केन्द्रीय चेतना है। भारतीयता क्या है ? यह प्रश्न हमें दूसरे प्रश्न की ओर ले जाता है, वह है भारतीय होना क्या है ? इसलिए अस्मिता तथा भारतीयता का प्रश्न एक महत्वपूर्ण सांस्कृतिक प्रश्न है।

मैथिलीशरण गुप्त उस युग की चेतना के एक प्रतीक थे जिसका एक प्रमुख लक्षण था एक भारतीय अस्मिता की खोज की व्याकुलता। यही आधुनिक भारत की सांस्कृतिक चिंता का केन्द्र है। भारतीयता की खोज की प्रक्रिया में यह समझने की कोशिश की गयी कि इस भारतीयता की सबसे बड़ी चुनौती क्या है? अस्मिता का सबसे बड़ा शत्रु कौन है ? असली शत्रु आर्थिक राजनैतिक उपनिवेशवाद है। सांस्कृतिक पराधीनता इस उपनिवेशवाद का परिणाम है। इसलिए नवजारण की चेतना में आर्थिक और राजनीतिक संदर्भों की तुलना में सांस्कृतिक प्रश्न और अस्मिता पर बल दिया गया।

नवजागरण वस्तुत: उपनिवेशवाद के साथ सांस्कृतिक मुठभेड़ की चेतना है। बिना किसी जीवंत प्रेरणास्पद आत्मबिंब के यह लड़ाई नहीं लड़ी जा सकती। उपनिवेशवाद के विरुद्ध एक निहत्था देश, ब्रिटिश साम्राज्यवाद के साथ भावनात्मक सांस्कृतिक बोध से ही लड़ सकता था। इसके लिए नवजागरण ने एक आत्मबिंब का निर्माण किया। वह था इतिहास की महानता और गौरव गान। इतिहास के गौरव धरातल पर आत्मबिंब का निर्माण किया गया। यह ऋषियों, ज्ञानियों का देश है, यहां की सभ्यता उन्नत है। उसके टकराव का तात्कालिक सरोकार ब्रिटिश साम्राज्य से है। इस ब्रिटिश साम्राज्य से संघर्ष करने के लिए 19वीं शती में नवजागरण एक अस्त्र के रूप में प्रयुक्त हुआ।

उस महान संस्कृति के स्त्रोत क्या थे? उस महान संस्कृति से हम कैसे जुड़ सकते हैं ? आज हम कैसे एक नई पहचान निर्मित कर सकते हैं ? हम अपनी पहचान को कैसे व्यापक और विशद बना सकते हैं ? यह प्रश्न एकाएक समूचे देश में कौंधा था जिसकी अभिव्यक्ति दक्षिण भारत में सुब्रह्मण्यम स्वामी, उत्तर भारत में मैथिलीशरण गुप्त तथा बंगाल में बंकिम चन्द्र चटर्जी की कविताओं में होने लगी। इन तीनों रचनाकारों ने अस्मिता की कल्पना माँ के रूप में की।

नीलांबर परिधान हरि पट पर सुंदर शोभित है....

सूर्य-चंद्र युग मुकुट मेखला रत्नाकर है . .
नदियां प्रेम-प्रवाह, फूल तारे मंडन हैं
बन्दीजन खगवृन्द, शेष-फन सिंहासन है।
करते अभिषेक पयोद हैं, बलिहारी इस वेष की,
हे मातृभूमि ! तू सत्य ही सगुण मूर्ति सवैश की ।।

इस आत्मबिंब को अस्मिता के रूप में, अस्मिता को माँ की प्रतिमा के रूप में व्यक्त कर इन रचनाकारों ने अस्मिता के प्रश्न को आत्मबिंब से जोड़ा। किन्तु इस आत्मबिंब के साथ अनेक कठिनाइयां थीं -

हम कौन थे, क्या हो गए, क्या होंगे अभी
आओ मिलकर विचारें आज सभी।

स्वाधीनता संघर्ष के दौरान इन कठिनाइयों पर ध्यान नहीं दिया गया। उस समय के राजनीतिक, सांस्कृतिक उपक्रम का मुख्य लक्ष्य अंग्रेजों को हटाकर देश को ब्रिटिश सत्ता से मुक्त कराना था। भारत-भारती नवजागरण के केन्द्रीय प्रश्न को प्रभावशाली ढंग से संबोधित करती है। अज्ञेय ने भारत-भारती की राष्ट्रीयता पर विचार करते हुए लिखा कि *"भारतीयता की खोज का जैसा प्रयास भारत-भारती में दिखाई देता है वैसा किसी अन्य रचना में नहीं। भारत-भारती ने जिस तरह समाज के हर वर्ग के मर्म को छुआ, संवेदना के हर स्तर को झकझोरा और भावनामूलक बौद्धिक एवं आध्यात्मिक सभी प्रकार के सरोकारों की पुष्टि की वह अद्वितीय कृति है।"*

भारत-भारती में अस्मिता का प्रश्न एकांगी है। अज्ञेय ने भी स्वीकार किया है कि भारत-भारती में जिस जातीय अस्मिता को जगाया गया है आज वह अधूरी जान पड़ रही है। उसके केन्द्र में हिन्दू या तात्कालीन परिस्थितियों में आर्य जाति है। उसे ही अस्मिता का ध्वजवाहक माना गया है।

नवजागरण के दौरान जातीय श्रेष्ठता का बोध एक ऐतिहासिक दबाव से उत्पन्न हुआ था। इस जातीय श्रेष्ठता की पुष्टि पौराणिक और मिथकीय आधार पर की गयी थी। जातीय श्रेष्ठता की स्थापना के लिए इतिहास का पौराणीकरण तथा मिथकीयकरण किया गया। एक तरह से नवजागरण के दौर में

उत्कर्ष क्लासेज (रजि.) उत्कर्ष IAS 100 IAS/PCS

जातीय श्रेष्ठता को निर्मित किया गया, किंतु उसे इतिहास की भाषा और मुहावरे में गढ़ने की कोशिश की गयी।

इस जातीय श्रेष्ठता का एक सामाजिक मनोआधार भी है। एक पुरानी जाति जिसका वर्तमान जर्जर है, विसंगतियों से भरा हुआ है, जो अपने वर्तमान को लेकर भविष्यहीनता और अर्थहीनता का शिकार है, वह जाति इतिहास में एक सांस्कृतिक लड़ाई लड़ने के लिए जातीय श्रेष्ठता के मिथकीय विश्वासों पर निर्भर रहने के लिए बाध्य है। इस तरह से नवजागरण में जातीय श्रेष्ठता की संरचना है। भारत-भारती का अतीत खंड उस जातीय श्रेष्ठता का दस्तावेज है। संसार की कोई भी सभ्यता जिस परिपूर्णता का स्वप्न देखती है उस सभ्यता को भारतीय सभ्यता ने पा लिया था - यह अवधारणा ही गैर-ऐतिहासिक है। इतिहास से बाहर जाये बिना जातीय श्रेष्ठता का निर्माण संभव नहीं है। इसीलिए भारत-भारती में जातीय श्रेष्ठता का जो इतिहास दिखाई देता है उसकी जड़ें मिथक में हैं।

भारत की श्रेष्ठता के बारे में गुप्त जी भारत-भारती में कहते हैं :

आर्य श्रेष्ठता का बोध भारत-भारती में दिखाई देता है। इसे इस रूप में व्यक्त किया गया है कि हमारे पूर्वजों की श्रेष्ठता का गुणगान समूचा संसार कर रहा है। जातीय श्रेष्ठता जीवन मूल्यों की महानता के आधार पर भारत-भारती में प्रस्तुत की गयी है। आर्य आत्मकेन्द्रित नहीं थे। स्वार्थी भी नहीं थे। लोक कल्याण की चेतना उनके जीवन का बुनियादी आधार था। भौतिक मूल्यों की तुलना में मानवीय मूल्यों की चरितार्थता ही जातीय श्रेष्ठता है। जातीय श्रेष्ठता के जिस बोध का विकास नवजागरण में हुआ भारत-भारती ने उसे कविता के अनुशासन में दर्ज किया।

क्या भारत-भारती में चित्रित जातीय श्रेष्ठता का ऐतिहासिक आधार है ? वर्तमान भारतीय समाज में उस जातीय श्रेष्ठता का कोई भी अवशेष मौजूद है ? वर्तमान और अतीत के बीच कोई संबंध नहीं दिखाई देता। वर्तमान के कंकाल में महानता का कोई रूप नहीं दिखाई दे रहा है। हर तरफ जातीय भेदभाव एवं सामाजिक विषमता है। नवजागरण में यह समझने में कठिनाई आ रही थी कि आखिर हमारा पतन क्यों हुआ ? एक तरफ़ जातीय श्रेष्ठता तो दूसरी तरफ जातीय पतन के कारणों की तलाश थी।

उत्कर्ष क्लासेज (रजि०) उत्कर्ष IAS PH-2765400, IAS/PCS-9868448806

19वीं शती में राजनीतिक, आर्थिक स्तर पर भारतीय समाज के पतन पर विचार किया गया। 'भारत दुर्दशा' में इस पतन का कारण राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक दर्शाया गया है लेकिन गुप्त जी इस जातीय श्रेष्ठता के पतन का कारण भी इतिहास चक्र में देखते हैं। उनके अनुसार समय निरंतर परिवर्तनशील है। उस परिवर्तन की प्रक्रिया में श्रेष्ठता नष्ट होती है। प्रकाश खत्म होता है, अंधकार शुरू होता है, फिर अंधकार खत्म होता है, फिर प्रकाश आता है, यह प्रक्रिया निरंतर गतिमान है। उत्थान और पतन की प्राकृतिक प्रक्रियाओं में ही भारतीय परंपरा का अवसान हुआ। इसीलिए गुप्त जी ने जातीय पतन के कारणों पर विचार करते हुए इतिहास के अनुशासन को छोड़ दिया।

जातीय श्रेष्ठता की चिंतन की प्रक्रिया में गुप्त जी ने एक कवि के रूप में अपने इतिहास, वर्तमान, भविष्य तीनों पर सामूहिक स्तर पर विचार करने की अपील की। इस चिंतन प्रक्रिया में अपने देश की महानता श्रेष्ठता को स्थापित किया।

प्राचीन भारतीय संस्कृति के गौरव की पुनर्स्थापना (नवजागरण की पुनरुत्थानवादी चेतना) :

अतीत की गौरवमयी चेतना की स्थापना नवजागरण का मुख्य पक्ष था। भारत-भारती के भविष्य खंड में प्राचीन भारतीय गौरव के पुनर्भाव की आकांक्षा की गयी है।

संस्कृति की पुनर्स्थापना की प्रवृत्ति मूलतः इतिहास विरोधी है। इतिहासकारों ने इस पर जोर दिया है कि सांप्रदायिक भारत की जड़ें नवजागरण में विद्यमान हैं। सामाजिक जड़ता एवं धार्मिक अस्मिता की जड़ें नवजागरण के भीतर ही मौजूद हैं। इसीलिए गुप्त जी ने भारत-भारती में अतीत की महानता तथा भारत दुर्दशा पर विचार करते हुए जिस नये समाज की कल्पना की है, उस समाज के मूल्यगत आधार विगत सुध्यता ने तैयार किया है। गुप्त जी के सामाजिक व्यवस्था, सांस्कृतिक चेतना, स्त्री संबंधी सभी विचार अतीतगामी हैं।

यह जो नयी सामाजिक व्यवस्था होगी वह प्रभुकृपा पर आधारित होगी। नये समाज के निर्माण में राजनीतिक संकल्प, इतिहास बोध, राष्ट्रीय आचरण की क्या भूमिका होगी, इसको छोड़ दिया गया। इन मानवीय निर्णयों के बिना कोई सामाजिक भविष्य नहीं निर्मित हो सकता। भारत-भारती में भविष्य की समूची परिकल्पना भावात्मक कुहासा है। यह परिकल्पना ईश्वर के भरोसे प्रतिष्ठित है। यह इतिहास को

स्वकल्पित श्रेष्ठता का परिणाम है। भारत-भारती की एक बड़ी सीमा इस बिंदु पर है कि वह भविष्य के निर्माण में वर्तमान की जटिलता एवं समस्याओं की अनदेखी करती है। **'एक वैदिक सभ्यता की वापसी में ही भारत का भविष्य सुरक्षित है।'** यह भारत-भारती की पुनरुत्थान मूलक चेतना का प्रमाण है।

भारत-भारती में 19वीं सदी के मध्य से विकसित होने वाली और 20वीं सदी के पूर्वार्द्ध में विकसित हुई नवजागरण की चेतना प्रतिबिंबित है। इसलिए इस संस्कृति में निहित विचार एवं उसकी सीमायें उस नवजागरण का ही ऐतिहासिक प्रतिबिंब है जिसका अनुभव एक पराधीन देश ने किया था। 21वीं शती के भारत और भारतीय अस्मिता के जिस स्वरूप की स्थापना भारत-भारती में की गयी उसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। लेकिन कोई भी लोकप्रिय कृति इतिहास के एक विशेष कालखंड की जनचेतना को मुखरवाणी देती है और इस रूप में वह समय का साक्ष्य बनती है। भारत-भारती की जातीय चेतना उसका इतिहासबोध और एक नये समाज का स्वप्न एक निश्चित ऐतिहासिक देशकाल से जुड़ा हुआ है। इसलिए इस कृति की आलोचना नवजागरण की समूची प्रक्रिया तथा जीवनदर्शन पर पुनर्विचार बनने से जुड़ी है।

श्री उत्कर्ष क्लासेज (प्रा.) लि. IAS Ph.2765400 IAS/PCS 9868448800

राष्ट्रीयता

भारत-भारती की राष्ट्रीयता पर विचार करते हुए जो समकालीन राजनीतिक परिदृश्य है उस पर विचार करना चाहिए। यानी भारत-भारती की राष्ट्रीयता पर विचार भारतीय राजनीतिक परिदृश्य पर आधारित होगा। हमारा आज का समय भयानक राष्ट्रीय व्यथा का दौर है। राष्ट्रीय एकता के सामने अभूतपूर्व अनपेक्षित दरारों की चुनौतियाँ हैं। एक तरफ क्षेत्रीयता की तनी हुई छातियां हैं तो दूसरी तरफ वह शासक वर्ग है जिसने एक समतावादी समाज के संकल्प को नष्ट कर दिया है। उपभोक्तावादी समाज का निर्माण हुआ है। भौतिक साधनों की संपन्नता में वृद्धि के बावजूद असमानता बढ़ी है। असमानता का इतना विकराल रूप पुरानी व्यवस्था में भी नहीं था।

बाहरी संपन्नता, भौतिक संपन्नता में वृद्धि के बावजूद असमानता विकराल रूप से बढ़ी है। आज यह देश केवल राजनीतिक, आर्थिक संकट से ही नहीं बल्कि राष्ट्रीय नवजागरण की व्यथापूर्ण स्थिति से

भी गुजर रहा है। सबसे बड़ा संकट है कि मूल्यों, परिभाषाओं के धरातल पर पहली बार इस देश का साधारण आदमी प्रदत्त संस्थाओं की निरर्थकता व असमानता का सामना कर रहा है। संसद, विधानसभाओं, सी.बी.आई., निर्वाचन आयोग, पुलिस प्रशासन, सेना कोई भी प्रदत्त लोकतांत्रिक संस्था से, जिससे देश व समाज का नियमन, व्यवस्थापन हो रहा है, भरोसा उठ गया है। इन संस्थाओं की निरपेक्षता, तटस्थता, ईमानदारी संदेहास्पद हो गयी है। यह समाज की धूरी के बिखरने का स्पष्ट संकेत है। (पृष्ठभूमि में वर्तमान संकट को रखकर ही राष्ट्रीयता पर विचार हो सकता है।).

गुप्त जी की भारत-भारती में व्यक्त राष्ट्रीय चेतना की पड़ताल हमारे समकालीन संदर्भ में प्रासंगिक है। भारत-भारती की राष्ट्रीयता पर विचार करते हुए प्रथम प्रश्न यह उठता है कि भारतीय राष्ट्र की अवधारणा क्या है ? गुप्त जी की इस राष्ट्रीयता का आधार क्या है ?

गुप्त जी ने राष्ट्रीयता पर विचार करते हुए भारत भारती में निरंतर धर्म और जातीयता का प्रश्न उठाया है। यानी कि गुप्त जी की राष्ट्रीयता का आधार हिंदू जीवन दर्शन है। इसीलिए भारत-भारती 19वीं शती से विरासत में मिली एक प्रवृत्ति को प्रदर्शित करती है क्योंकि भारतेन्दु के समय में ही संभवतः 'हिन्दू' को भारतीय का पर्याय मान लिया गया। गुप्त जी की राष्ट्रीयता में भारत तथा भारतीय राष्ट्र की समग्रता और वैविध्य का अभाव है।

राष्ट्रीयता की चेतना पर विचार करते हुए इस प्रश्न पर प्रकाश डालना जरूरी है कि वह कवि राष्ट्र के अतीत, वर्तमान और भविष्य पर क्या सोचता है ? उससे भी अधिक विचारणीय प्रश्न यह है कि एक रचनाकार किस समूह को राष्ट्रीय उद्‌बोधन का लक्ष्य बनाता है ? भारत-भारती का लक्षीभूत श्रोता हिन्दू समुदाय है। गुप्त जी के अनुसार हिंदू केवल समुदाय नहीं है, राष्ट्र है, जाति है और इस जाति का धर्म ही राष्ट्रीयता का बुनियादी आधार है। इस तरह गुप्त जी 'हिंदू' का प्रयोग केवल धार्मिक संदर्भ में ही नहीं करते बल्कि सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक अर्थ में भी हिंदू को ही राष्ट्रीय चेतना के मूल आधार के रूप में प्रस्तुत करते हैं। हिन्दू राजनीतिक, सामाजिक चेतना की पहचान भी है। गुप्त जी ने 1927 में 'हिन्दू' पुस्तक को लिखकर हिंदू का अर्थ विस्तार किया। जहां तक भारत-भारती का प्रश्न है उसकी रचना का मूल आधार हिन्दुत्व है।

ऐसा क्यों है कि गुप्त जी जैसा उदारवादी, व्यापक चेतना वाला राष्ट्रीय कवि हिन्दूत्व को राष्ट्रीय चेतना का आधार बनाता है। आलोचकों ने स्वीकार किया है कि गुप्त जी व्यावहारिक, सामाजिक अर्थों में सांप्रदायिक नहीं हैं किन्तु उनकी राष्ट्रीय चेतना का आधार एक आत्मतुष्ट हिन्दू समाज है।

राष्ट्रीय चेतना में हिंदू संस्कार की जड़ें 19वीं शती के नवजागरण में हैं जहां राष्ट्रीय चेतना की मूल संवेदना धर्मपरक अस्मिता से जुड़ी है। एक औपनिवेशिक समाज के सांस्कृतिक नवजागरण के आधारभूत आत्मबोध का आधार धर्म ही बनता है। स्वभावत: नवजागरण के दौरान भी सांस्कृतिक आत्मबोध की प्रक्रिया में 'हिन्दू' भारतीय का समानार्थीकरण घटित हुआ। हिन्दूत्व एवं राष्ट्रीयता की परस्परता ऐतिहासिक दबाव का परिणाम है।

राष्ट्रीयता का आधार सांस्कृतिक आत्मबोध है किंतु सांस्कृतिक आत्मबोध की दिशाओं पर विचार करते हुए सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि परंपरा के प्रति कवि का लगाव आलोचनात्मक है या गैर आलोचनात्मक। इस कवि को परंपरा के यथास्थितिवादी संस्कार अधिक आकृष्ट करते हैं। गुप्त जी की परंपरा के प्रति दृष्टि गैर आलोचनात्मक है। इसीलिए उनका बल एक नये राष्ट्र के निर्माण में भी परंपरा के मर्यादा के पालन पर है। इसलिए गुप्त जी की राष्ट्रीयता में एक नये समाज के निर्माण की तुलना में पुराने समाज के संशोधन पर अधिक बल दिखाई देता है। गुप्त जी के इतिहासबोध, उनकी सामाजिक चेतना, नये भारत के निर्माण के स्वप्न पर परंपरा के यथास्थितिवाद का बहुत गहरा दबाव है। युग के गहरे दाबवों के कारण वे वर्तमान और परंपरा के संबंध का पुनर्गठन करने का प्रयास करते हैं। भारत-भारती के बाद की रचनाओं में परंपरा के पुनर्गठन की प्रक्रिया अधिक तेज दिखाई देती है। जिस नये समाज की रचना का स्वप्न भारत-भारती में है वह मर्यादावादी, यथास्थितिवादी धारणा पर आधारित है।

स्त्री, वर्णव्यवस्था आदि परंपराओं के प्रति गुप्त जी की गैर-आलोचनात्मक दृष्टि उनकी राष्ट्रीयता को अतीतगामी स्वरूप प्रदान करती है। इस दृष्टि से भारतेन्दु की राष्ट्रीयता तथा गुप्त जी की राष्ट्रीयता के आधार की भिन्नता लक्षित की जा सकती है। भारतेन्दु की राष्ट्रीय चेतना सहज और अकुंठ सत्व बोध पर आधारित है। वह सांस्कृतिकहीनता की ग्रंथि से मुक्त है। हालांकि भारतेन्दु भी जातीय गौरव पर

बल देते हैं किन्तु वे यूरोप की उपलब्धियों तथा वैचारिक श्रेष्ठता की उपेक्षा नहीं करते। यूरोप के ज्ञानविज्ञान व समृद्धि को अस्वीकार कर अतीतगुफा में लौटने की सिफारिश नहीं करते। गुप्त जी की राष्ट्रीय चेतना इससे भिन्न है। इनकी राष्ट्रीयता के सामाजिक सूत्र आर्य समाजी प्रभाव में हैं। आर्यसमाज ने वैदिक संस्कृति को सभ्यता की शिखर संस्कृति माना है। इसलिए आर्य समाज तात्कालिक संदर्भ में उग्र समाज सुधार का आंदोलन था किन्तु उसमें निहित सांस्कृतिक बोध गैर आलोचनात्मक था और उसमें परंपरागत प्रेम एवं संकीर्ण आक्रामकता मौजूद थी। इसीलिए कहा गया है कि आर्यसमाज सांस्कृतिक-हीनता-ग्रंथि के उदात्तीकरण का आंदोलन था।

गुप्त जी ने भारत-भारती में इसी सांस्कृतिकहीनता ग्रंथि के उदात्तीकरण एवं वैदिक हिन्दूत्व की सर्वोच्चता को वाणी दी। भारत-भारती केवल यही प्रश्न नहीं करती कि 'हम कौन थे', इसका उत्तर भी देती है। लेकिन यह उत्तर अतीत खंड में बिखरा हुआ है। हम वह सब थे जो मनुष्य सभ्यता के उच्चतम शिखर पर हो सकता है। अतीत की ऐसी अवधारणा आधुनिक ज्ञानविज्ञान की उपलब्धियों के अस्वीकार से ही संभव थी। इस राष्ट्रीय सांस्कृतिक बोध की विडंबना यह है कि जिन सामाजिक-सांस्कृतिक संस्थाओं का गुप्त जी ने गौरव गान किया है उनकी प्रामाणिकता का हवाला मैकस मूलर ने दिया है। यानी यूरोपीय वैज्ञानिक चिंतन ने जो निर्माण किया है गुप्त जी उसी को पुष्ट करते हैं।

श्री उत्कर्ष क्लासेज उत्कर्ष IAS 9650000-IAS/PCS 8684000

गुप्त जी की चेतना वर्तमान बोध की उपेक्षा करते हुए अतीत की श्रेष्ठता ग्रंथि से निर्मित हुई है। इसलिए उनकी राष्ट्रीयता में जातीय श्रेष्ठता तथा रक्त शुद्धि का भी भाव दिखाई देता है। उनकी राष्ट्रीयता आर्यीकरण की प्रक्रिया पर आधारित है। आर्य चेतना गुप्त जी की राष्ट्रीय चेतना का मूल आधार है।

गुप्त जी की काव्य संवेदना में राष्ट्र के उस रूप को प्राथमिकता दी गयी है जिसका निर्माण उदात्त मानवीय मूल्यों द्वारा हुआ है। इसीलिए अपनी जातीय परंपरा में जो कुछ भी श्रेष्ठ हैं, उदात्त है, सर्जनात्मक है गुप्त जी का बल उन्हीं प्रसंगों तथा स्थितियों पर है।

भारत-भारती की राष्ट्रीयता में **परम्परा** की अनुगूंज विद्यमान है। वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, भवभूति और तुलसीदास की चेतना की अनुगूंज भारत-भारती में साफ सुनी जा सकती है। किन्तु

भारत-भारती की राष्ट्रीय चेतना उसके वर्तमान बोध के बिना पूरी नहीं हो सकती। भारत-भारती में यह विवाद का विषय है कि कवि की राष्ट्रीय चेतना की चिंता का केन्द्र वर्तमान, भविष्य और अतीत में से क्या है ? भारत-भारती की राष्ट्रीय चेतना का सरोकार उसका वर्तमान है। इस कृति के आरंभिक मंगलाचरण के बाद उद्धृत है :

भारत-भारती का सबसे प्रभावशाली खंड **वर्तमान खंड** है। कवि की व्यथा, निरूपायता, वेदना के प्रभावी बिंब इस अंश में चित्रित है। एक महान भारत के पतन का बेहद प्रभावी चित्र इस अंश में है।

चारों तरफ उदासी, चिंता की तरंगें विद्यमान हैं, किसी तरह की मूल्य, मर्यादा, संस्कृति नहीं रह गयी है। समाज के विधर्मीकरण पर गुप्त जी कहते हैं - भारत-भारती के वर्तमानबोध एक सभ्यता के पतन का उसके सामाजिक आर्थिक दरिद्रता का ज्वलंतादेह भविष्यहीनता का रचनात्मक दस्तावेज है।

भारत-भारती की राष्ट्रीयता हिंदुत्व के पर्याय के रूप में दिखाई देती है। भारत-भारती की राष्ट्रीयता ने परंपरा के प्रति गैर आलोचनात्मक दृष्टिकोण है। भारत-भारती की राष्ट्रीयता में जिस भविष्य की कल्पना की गयी, उसकी जड़ें अतीत में है। उसकी राष्ट्रीयता भविष्य को अतीत में पुनर्वासित करती है।

क्या भारत-भारती की राष्ट्रीयता का मूल आधार **पुनरुत्थान** है ? क्या भारत-भारती भारतीय सभ्यता की बहुकेन्द्रीयता व उसकी समझ को धुंधला बनाती है ? ये प्रश्न जीवन की समकालीन परिस्थितियों के दबाव से बने हैं। भारत-भारती इतिहास के एक विशेष कालखंड में रची कृति है। इसलिए भारत-भारती की राष्ट्रीय चेतना पर 19वीं एवं 20वीं शती के नवजागरण, स्वाधीनता आंदोलन का बहुत गहरा प्रभाव है। इसलिए इस कृति में राष्ट्रीय चेतना की संकीर्णतायें कवि से अधिक उस इतिहासबोध की हैं जिसने गुप्त जी की काव्य चेतना का निर्माण किया है। लेकिन गुप्त जी अपनी काव्यचेतना के विकास में इस संकीर्णता को तोड़ देते हैं।

अपनी आने वाली कृतियों में अधिक प्रगतिशील व्यापक राष्ट्र के स्वप्न का निर्माण करते हैं। गुप्त जी हिंदू थे, वैष्णव थे। सनातन धर्म भी उनका धर्म था जिसमें वैर के लिए कोई स्थान नहीं होता।

इसलिए गुप्त जी की मूल काव्य चेतना उदार मानवतावाद में है जिसकी जड़ें उस सनातन धर्म में थीं। भारत-भारती की राष्ट्रीयता की ऐतिहासिक सीमायें हैं। ये सीमायें कवि की नीयत की सीमायें नहीं हैं। वे इस समाज और इतिहास के दबाव का परिणाम है जिसमें रचनाकार रहता है।

मैथिलीशरण गुप्त की काव्य चेतना

गुप्त जी की काव्य चेतना का केन्द्रीय तत्व है वैष्णव संस्कार। गुप्त जी जिस परिवेश के रचनाकार हैं वह वैष्णव परिवेश है। इसलिए उनकी सभी रचनाएं सामान्यतः वैष्णव संस्कार से परिचालित और निर्मित हैं। यह वैष्णव संस्कार एक तरफ उनमें मानवीय मूल्यों के प्रति आस्था का भाव उत्पन्न करता है तो दूसरी तरफ अवतारवादी विश्वास के माध्यम से समस्याओं के समाधान का विश्वास भी दिलाता है। भारत-भारती की शुरूआत करते हुए प्रस्तावना में उन्होंने लिखा 'प्रिय पाठकगण, आज जन्माष्टमी है, आज का दिन भारत के लिए गौरव का दिन है, आज ही हम भारतवासियों को यहां तक कहने का अवसर मिला था : **"जय जय स्वर्गाश्रम, भारत कारागार। पुरुष पुरातन का जहां हुआ नया अवतार।"**

जन्माष्टमी अवतारवाद के प्रति उनकी आस्था और विश्वास का सूचक शब्द है। वैष्णव भाव के कारण ही उनकी चेतना में आदर्शों, मूल्यों, पवित्रता और नैतिकता के प्रति एक प्रबल आग्रह है। लेकिन यही वैष्णव भाव उन्हें जीवन की समस्याओं और परिस्थितियों को राजनीतिक, सामाजिक संदर्भों में नहीं समझने देता। समाज की समस्याएं कैसे बनती हैं, उन समस्याओं के पीछे नेपथ्य में कौन-कौन से कारक काम करते हैं, उसको अनदेखा करते हुए वैष्णव भाव वाला रचनाकार एक ही शब्द कहेगा कि यह सब भगवान की लीला है। इसलिए एक तरफ वैष्णव भाव व्यक्ति के स्तर पर उसे अधिक संवेदनशील तो बनाता है लेकिन समझ के स्तर पर लगभग उसे नासमझ बना देता है। समस्याओं का स्रोत कहां है ? क्या इस प्रश्न का उत्तर वैष्णव भाव बोध से पाया जा सकता है ? वस्तुतः वैष्णव भाव बोध की सीमाएं ही गुप्त जी की काव्य चेतना की सीमाएं हैं।

गुप्त जी की काव्य चेतना का दूसरा आधार है इतिहासबोध। इस इतिहासबोध के कारण ही वे बीते हुए भारत और वर्तमान भारत के अन्तर को पहचान पाते हैं।

यह बात मानी हुई है कि भारत की पूर्व और वर्तमान दशा में भारी अन्तर है। अन्तर न कह कर इसे वैपरीत्य कहना चाहिए।

भारत की वर्तमान दशा के लिए और उसके स्वर्णिम अतीत के ध्वंस के लिए कौन जिम्मेदार है? क्या उन परिस्थितियों और कारण की पहचान गुप्त जी के पास है ? गुप्त जी इस दुर्दशा का कारण **परिवर्तन के प्राकृतिक चक्र** को मानते हैं। अगर पतन का कारण प्राकृतिक नियम है तो उस पतन को लेकर इतना दुख और बेचैनी गुप्त जी में क्यों है ? इसका अर्थ है कि गुप्त जी भारत के पतन में व्यवस्था की भूमिका को किसी न किसी रूप में स्वीकार करते हैं। लेकिन उनके यहां इस समझ की तस्वीर बहुत धुंधली है। क्या वर्ण व्यवस्था, नारी के प्रति पारम्परिक दृष्टिकोण, असमानता और अंधविश्वासों की जकड़न के साथ किसी भी प्रकार के उत्थान की कल्पना की जा सकती है ? गुप्त जी के यहां उत्थान की धारणा इन प्रश्नों से नहीं टकराती। इसलिए उत्थान उनके यहां एक अमूर्त भाव है। क्या मौजूदा सामाजिक आर्थिक व्यवस्थाओं के साथ उत्थान संभव है, इस प्रश्न का उत्तर देना गुप्त जी जरूरी नहीं समझते।

भारत-भारती में **चिर-निद्रा** की बात उठायी गयी है। 'क्या सचमुच हमारी यह चिर निद्रा है ? क्या हमारा रोग ऐसा असाध्य हो गया है कि उसकी कोई चिकित्सा नहीं।' यह चिर निद्रा क्या है ? इसका अर्थ है बहुत लम्बी नींद। अगर यह वर्तमान चिर निद्रा का एक अंग है तो क्या इस बेहोशी में भारत का अतीत शामिल नहीं है ? इस तरह से गुप्त जी में इतिहास के प्रति दृष्टिकोण को लेकर अन्तर्विरोध दिखाई देता है। नींद का एक किनारा वर्तमान है तो दूसरा किनारा अतीत भी है। लेकिन अतीत को वे छूने की कोशिश नहीं करते। इसलिए इस चिर निद्रा की प्रकृति भी अमूर्तन से घिरी हुई है। वे इसे स्पष्ट नहीं कर पाते हैं कि चिर निद्रा है ?

इस संदर्भ में एक और बात विचारणीय है कि वैष्णव भाव के कारण परिवर्तन और निर्माण के प्रति एक शिशु उत्साह गुप्त जी में दिखाई देता है : 'संसार में ऐसा कोई काम नहीं जो सचमुच उद्योग से सिद्ध न हो सके।' यानी उद्योग या परिश्रम से, उत्साह से संसार में सब कुछ सिद्ध किया जा सकता है। इसमें शिशु भाव दिखाई देता है।

इस तरह की धारणा का जब आलोचनात्मक विश्लेषण करते हैं तब इन धारणाओं में एक मासूमियत तो दिखाई देती है, यह आस्थाओं का तुतलापन है जो सुनने में अच्छा लगता है लेकिन उसमें कोई बात नहीं होती। इतिहास के संदर्भ में यह देखा जा सकता है कि क्या किसी भी तरह का उत्साह या उद्यम भारत पाकिस्तान के विभाजन को रोक सकता था ? जो उत्साह और उद्योग में ईमानदारी से काम कर रहे थे, इस व्यवस्था में उनका हश्र क्या हुआ ? जीवन के किसी भी क्षेत्र में अगर ईमानदार उत्साह और उद्योग है तो वह क्षेत्र आपको हाशिए में ढकेल देगा। व्यवस्था उत्साह और उद्योग से नहीं चलती, व्यवस्था के कुछ आन्तरिक तंत्र होते हैं। संगठन और व्यवस्था में बेमानी का आक्सीजन अनिवार्य है। एक शिशुता और मासूमियत से भरा हुआ वक्तव्य कि उद्योग से सब कुछ हो सकता है। ये सब भावबोध हैं जिनके आधार पर वे भारत-भारती लिखने जा रहे हैं। उनकी दृष्टि में : कविता का लक्ष्य है **'इसी उत्साह को इसी मानसिक वेग को उत्तेजित करने के लिए कविता एक उत्तम साधन है।'**

भारत-भारती का जो मूल उद्देश्य है वह है पाठक में उत्साह और मानसिक वेग को उत्तेजित करना। कविता के प्रति यह दृष्टिकोण भी बहुत अमूर्त है। कविता व्यवस्थागत यथार्थ के प्रति आलोचनात्मक चेतना पैदा करती है या अमूर्त उत्साह की सृष्टि ? इन प्रश्नों और स्थितियों के संदर्भ में भारत-भारती का अध्ययन विश्लेषण संभव है।

भारत-भारती : काव्यार्थ

भारत-भारती की पूरी संरचना तीन खंडों में बंटी हुई है, अतीत, वर्तमान और भविष्य। इसलिए इस कृति की जो मूल अन्तर्वस्तु है वह काल के तीनों आयामों में एक देश की चिंता से जुड़ी हुई है। देश की चिंता का एक छोर अतीत है, दूसरा वर्तमान है और तीसरा भविष्य है। इतिहास के प्रति गुप्त जी एक नियतिवादी दृष्टिकोण रखते हैं। इसलिए वे किसी भी परिवर्तन को परिस्थितियों एवं सामाजिक संबंधों की जटिलता के विश्लेषण में नहीं समझ पाते। उदाहरण -

संसार में किसका समय है एक सा रहता सदा,
है निस दिवस हो घूमती सर्वत्र विपदा संपदा।।

"श्री उत्कर्ष I.A.S."

किसी का समय एक तरह नहीं रहता। सम्पन्न और विपन्नता रात और दिन की तरह घूमती रहती है। **'जो आज एक अनाथ है नरनाथ कल होता वही।'** यही जीवन का नियम है यही इतिहास का नियम है। इसे इतिहास की नियतिवादी धारणा कहते हैं। इस परिवर्तन में व्यक्ति की शायद कहीं भूमिका नहीं है। इसलिए यह परिवर्तन का नियम है –

'यह नियम है उद्यान में पक कर गिरते पत्ते जहां,
परकटित हुए पीछे उन्हीं के लहलहे पल्लव वहां।
पर हाय इस उद्यान का कुछ दूसरा ही हाल है,
पतझड़ कहें या सूखना कायापलट या काल है।।'

अब परेशानी यह है कि हिंदुस्तान की जो हाल है, लगता नहीं है कि नये पत्ते आयेंगे। इतिहास का अनुभव है कि ऐसा ही होता है। इस प्रकार की नियतिवादी दृष्टि के आधार पर गुप्त जी इस देश के इतिहास, वर्तमान और भावी रूप का विश्लेषण करते हैं।

इसी बोध के आधार पर वे तीनों काल खंडों को देखते हैं।

यह जो सृष्टि है, यह वैपरित्य का एक चक्र है। जो आज है, आने वाले दिनों में उसकी प्रकृति बिल्कुल बदल जाएगी। इस विश्लेषण पर भी गुप्त जी के भाववाद का आवेश स्पष्ट दिखाई देता है। इस परिवर्तन की अनिवार्यता के बावजूद वे श्रेष्ठता के प्रति या इतिहास की श्रेष्ठता के प्रति एक आवेश से ग्रसित दिखाई देते हैं। उत्थान और पतन अगर दोनों प्रकृति के नियम हैं तो किसी भी स्थिति को लेकर बहुत दुखी होने का कारण नहीं होना चाहिए। गुप्त जी अतीत को लेकर एक गौरव का भाव रखते हैं :

'भूलोक का गौरव प्रकृति का पुण्य लीला स्थल कहां,
फैला मनोहर गिरि हिमालय और गंगाजल कहां,
संपूर्ण देशों से अधिक किस देश का उत्कर्ष है,
उसका कि जो ऋषि भूमि है वह कौन भारतवर्ष है।।'

यह गर्व उस दौर में कितना महत्वपूर्ण होगा आज इसको समझना बहुत मुश्किल काम है। इस गर्व का कारण स्वाधीनता आंदोलन के मनोविज्ञान में है। एक हारी और पराजित जाति के गर्व के

मनोविज्ञान का रचनात्मक निर्वाह एक कवि ही कर सकता है। लेकिन गर्व का यह आवेश परिस्थितियों के विश्लेषण के लिए अपेक्षित विवेक को धुंधला भी बनाता है। यह गर्व-भाव इतिहास का विश्लेषण नहीं करने देता।

इसलिए हमारे भारत की श्रेष्ठता का बयान करते हुए उन्होंने अपने पूर्वजों पर बात केन्द्रित की है - 'उन पूर्वजों की कीर्ति का वर्णन अतीव अपार है,

गाते नहीं उनके हम गुण गा रहा संसार है।
वे धर्म पर करते न्यौछावर तृण समान शरीर हैं,
उनसे वही गंभीर थे वरवीर थे धरूधीर थे।।'

इस स्तर पर हम देखते हैं कि कविता में बहुत भावुकता है। यह जो आवेश है, इसका जन्म एक पराधीन भारत के मनोविज्ञान से हुआ है। इसलिए यह विश्लेषण नहीं करने देता। मगर क्या इन पूर्वजों के इतिहास में द्रौपदी चीर हरण, शम्बूक वध, युधिष्ठिर का जुआ खेलना जैसे प्रकरण शामिल नहीं हैं ? मैथिलीशरण गुप्त दूसरे पक्ष को नहीं देख पाते। सारी गलतियां वर्तमान पीढ़ी की नहीं हैं। गुप्त जी आनुवांशिकता के संदर्भ में नहीं देखते कि पूर्वजों की क्या गलतियां रही हैं ? जो इतिहास का बोध है जिसमें वे भारत की श्रेष्ठता पर बात कर रहे हैं, अपने पूर्वजों पर बात कर रहे हैं - वह बहुत धुंधला, एकतरफा और पूर्वाग्रहों से है। आज का पाठक यह पूछ सकता है कि जिन महान पूर्वजों की यह स्मृति है, उन्हीं महान पूर्वजों की परम्परा में राम को वनवास दिया गया था। उन्हीं की परम्परा में महाभारत हुआ था। उन्हीं की परम्परा में एकलव्य का अंगूठा मांगा गया था।

इतिहास के प्रति एक बहुत भावुक सम्मोहन का भाव है। इसलिए गुप्त जी की दृष्टि हिंदुस्तान के इतिहास को उसके समूचेपन में नहीं देखने देती। उन्होंने कुछ खास बिन्दुओं पर इतिहास को देखने की कोशिश की है।

उनके यहां आर्य चेतना, आर्य श्रेष्ठता का भाव है। आर्य श्रेष्ठता की बार-बार बात की गई है। त्रिपुरा, मणिपुर, नागालैंड और पूरा का पूरा दक्षिण भारत, क्या हम उन्हें हिन्दुस्तान से अलग करके देख सकते हैं ? यह बहुत खतरनाक बात हो सकती है। जब वे इतिहास को देखते हैं तो समूचे हिन्दुस्तान को

नहीं देखते. उनके यहां हिन्दुस्तान का अर्थ है आर्य. जबकि हिन्दुस्तान की संरचना में आर्यों की तुलना में अनार्यों की संख्या ज्यादा है। हिन्दुस्तान मूलत: अनार्यों का देश है। इसलिए वे इतिहास में चुनाव किसका कर रहे हैं यह बहुत महत्वपूर्ण है -

'वे आर्य ही थे जो कभी अपने लिए जीते न थे.
वे स्वार्थरत हो मोह की मदिरा कभी पीते न थे।
संसार के उपकार हित जब जन्म लेते थे सभी,
निश्चेष्ट होकर किस तरह वे बैठ सकते थे कभी।।'

आर्यों की श्रेष्ठता का आधार यह है कि उनमें किसी प्रकार का कोई दोष नहीं है। तो क्या दुर्योधन अनार्य था ? दधिचि से उनकी हड्डियां मांगने राक्षस आये थे या देवता आये थे ? इन्द्र देवता और आर्यों का राजा है। इन्द्र का चरित्र कैसा है ? सुरा-सुन्दरी में डूबा हुआ, इन्द्रासन में बैठने वाला शासक, जो धरती के किसी भी खण्ड में तपस्या से भयभीत होता था और उनकी तपस्याएं और ध्यान तुड़वाने का उपक्रम करता था। इसलिए जो आर्य चेतना है इसमें भी बहुत संकीर्णताएं हैं। इस संकीर्णता का चुनाव उन्होंने नहीं किया है, क्योंकि आर्य समाज का बहुत गहरा प्रभाव उस दौर में है। दयानन्द सरस्वती का बहुत व्यापक प्रभाव है जो अर्य श्रेष्ठता का वरण करता है।

इसी तरह से उन्होंने आदर्श का चुनाव किया है। आदर्श का अर्थ गुप्त जी के यहां है **दानशीलता**-

'दे दी जिन्होंने अस्थियां परमार्थ हित जानी जहां,
शिवि हरिश्चन्द्र दधिचि से होते रहे दानी यहां।।'

दान ही आदर्श का सबसे बड़ा आधार हो सकता है। आगे चल कर गुप्त जी ने अपनी कई धारणाएं बदलीं और अपनी धारणाओं में क्रांतिकारी परिवर्तन किया। उन क्रांतिकारी परिवर्तनों का एक बिन्दु है **स्त्री**। लेकिन भारत-भारती में वे इतिहास की श्रेष्ठ स्त्रियों के बारे में जब वक्तव्य देते हैं तो उस पर पुरुषवादी और सामंतवादी आग्रहों का बहुत गहरा दबाव दिखाई देता है -

'पूजन किया पति का स्त्रियों ने भक्तिपूर्ण विधान से,
अंचल पसार-प्रणाम कर फिर, की विनय भगवान से।।'

वे पति की पूजा करके और आंचल पसार कर भगवान से मांगती हैं कि हे विश्वेश –

'हम अबला जनों के बल तुम्हीं हो सर्वदा,
पतिदेव में मति गति तथा दृढ़ हो हमारी रति सदा।।'

भगवान हमें यह वरदान दो कि पति जैसा भी हो उसी में मति हो, गति हो और रति हो। इसे गुप्त जी बहुत अच्छी निगाह से देख रहे हैं। इस स्तर पर यह कृति इतिहास को एक अखंड, निरंध्र आदर्श की तरह देखती है। भारत-भारती का इतिहास बोध में जो सामाजिक परिप्रेक्ष्य है वह बहुत पुरातनवादी है।

इस सामाजिक रचना में मुसलमानों को कहां रखा जाए ? इसमें एक वक्तव्य है –

'हैं निष्ठुरों के हाथ से सुरमूर्तियां खंडित हुईं,
बहु मंदिरों की वस्तुओं से मस्जिदें मंडित हुईं,
जजिया सरीखे कर लगे यह बात यही सिद्ध हुई,
जो प्राप्त हो परतंत्रता में दुख थोड़ा है वही।।'

किन्हीं दानवों ने भी हमारी ये मूर्तियां तोड़ डाली थीं। मुसलमानों की धर्मांधता का जिक्र तो किया गया है, लेकिन हिन्दुओं ने अपने समाज के साथ क्या किया इसका कोई जिक्र नहीं किया गया है। मुसलमानों ने छुआछूत पैदा नहीं किया, वर्ण-व्यवस्था पैदा नहीं की, ऊँच नीच का भेद पैदा नहीं किया।

अतीत को गुप्त जी इस तरह से देखते हैं। अपनी सभ्यता और राजनीति पर भी उन्होंने कुछ बात की हैं। हमारी सभ्यता क्या थी – **'हम दूसरों के दुख को थे दुख अपना मानते।'** ऐसा कब था ? लेकिन कवि को ऐसा लगता है। जिस इतिहास की वे बात कर रहे हैं उस इतिहास और उससे पहले भी अनेकों ऐसी घटनाएं हैं जिनमें अपना सुख, अपना वर्ग बहुत महत्वपूर्ण है। व्यक्ति तो आज भी ऐसे हो सकते हैं लेकिन समाज ऐसा नहीं रहा कि दूसरे के दुख को अपना दुख माने। अगर ऐसा होता तो आर्य और अनार्य का, ब्राह्मण और शूद्र का और गरीब और अमीर का भेद नहीं होता। लेकिन इतिहास का तथ्य है कि यह भेद निरंतर मौजूद है।

गुप्त जी की धारणा है कि जो भी होता है ईश्वर करता है, जो मुझमें है वही दूसरे में है। इसलिए दोनों एक हैं। यह हमारी सभ्यता है। यह सभ्यता का बहुत ही ऊपरी सर्वेक्षण है। लेकिन जो जमीनी वास्तविकता है, गुप्त जी उस तक नहीं आते। शायद यह उस समय की मांग हो कि देश के अतीत के सकारात्मक तत्वों को भीतर से नहीं देखना है, एक ऐसा देश जो सर्वात्म भाव को स्वीकार करता है। अगर ऐसा है तो वह हमारी सामाजिक, आर्थिक व्यवस्था में प्रतिफलित क्यों नहीं होता। राजनीति के बारे में -

'हम भूप होकर भी कभी होते न भोगासक्त थे,
रह कर विरक्त विदेह जैसे आत्म योगासक्त थे।
कर्तव्य के अनुरोध से ही कार्य करते थे सभी,
राजत्व में भी फिर भला हम भूल सकते थे कभी।।'

उन्होंने जनक का उदाहरण लिया है। राजा होते हुए भी हम आसक्त नहीं थे। किन्तु जनक एक हैं। जनक सभी राजाओं के प्रतीक और प्रतिनिधि नहीं हैं। एक व्यक्तिवाचक आदर्श को गुप्त जी जातिवाचक आदर्श में तबदील कर देते हैं।

इस अमूर्तन और भटकाव की परिणति अंततः विलाप पर होती है। भारत के अतीत खंड की अंतिम चार पंक्तियां हैं -

'हा दैव अब वे दिन कहां हैं और वे रातें कहां,
हैं काल की घातें हैं, कल की, आज है बातें कहां।
क्या थे तथा अब क्या हुए हम, जानता बस काल है,
भगवान जाने काल की कैसी निराली चाल है।।'

'क्या थे और क्या हो गये', यह विलाप का स्वर सुनाई देता है। किसी को दोष देने की जरूरत नहीं है यह संभवतः काल का एक षडयंत्र है।

दूसरा हिस्सा वर्तमान का है। भारत-भारती की जो पूरी मानसिक संरचना है उसमें गुप्त जी आगे चलकर बुनियादी रद्दीबदल करते हैं। इतिहास के प्रति एक बहुत पैना आलोचनात्मक दृष्टिकोण वहीं

कवि अपनाता है। वर्तमान को उन्होंने कीचड़ की संज्ञा दी है। जो अतीत है इसको उन्होंने कहा कि कीचड़ तो पहले भी था लेकिन उसमें कमल थे :

'जिसकी अलौकिक कीर्ति से उज्ज्वल हुई सारी मही,
था जो जगत का मुकुट है क्या हाय यह भारत वही।।'

अब कमल क्या जल तक नहीं। *'सर मध्य केवल पंक है, वह राज राज कुबेर अथा रंक का भी रंक है।'* जब वे वर्तमान पर आते हैं तो बहुत पैनी दृष्टि दिखाई देती है।

वर्तमान के लिए उन्होंने किन-किन चीजों को चुना है ? एक तो यह कि सिर्फ कीचड़ है। कीचड़ कुरूपता का, दलदल का, श्रीहीनता का प्रतिनिधि है। जिस सरोवर में कभी जल था, जल में कमल थे, कमल में सुगंध और सौंदर्य था वह सब खत्म हो गया है -

'उन मंदिरों के ढेर ऊँचे आह रूप उजाड़ के।
हां पूर्वजों की बैठकों में दीखते अब झाड़ हैं।'

जहां हमारे पूर्वज बैठते थे अब उसमें जंगली घास उगी हुई है। वर्तमान के प्रति अपनी आलोचनात्मक दृष्टि के कारण 'भारत-भारती' वर्तमान की दुर्दशा का एक प्रत्यक्ष और यथार्थपरक साक्षात्कार है। यह देश सभी दृष्टियों से श्रीहीन हो गया है और इस श्रीहीनता के अभिलक्षण कौन-कौन हैं ? कोई भी समाज किन बिंदुओं पर अपनी शोभा, अपनी शक्ति, अपनी प्रामाणिकता और अपना वैभव खोता हुआ दिखाई पड़ता है ? वर्तमान के संदर्भ में उन्होंने कहा कि वर्तमान दुर्दशाग्रस्त है क्योंकि यहां पर दरिद्रता है -

'देखो जिधर अब बस उधर ही है उदासी छा रही,
काली निराशा की निशा सब ओर से है आ रही।
चिंता तरंगें चित्त को बेचैन करती हैं सदा,
अब नित्य ही आती यहां पर एक नूतन आपदा।।'

चारों तरफ चिंता की अंधेरी काल रात्रि है और हर दिन कोई न कोई विपत्ति लेकर आता है। इसलिए चारों तरफ दुर्भिक्ष है, दरिद्रता है, बेबसी है, गरीबी है और उन्होंने बहुत स्पष्ट बिंब दिया -

'दुर्भिक्ष मानो देह धर कर घूमता सब ओर है।' अकाल जैसे शरीर धारण करके चारों तरफ उत्पात मचा रहा है :

'हा अन्न, हा हा, अन्न का रव गूंजता घनघोर है,
सब विश्व में सौ वर्ष में रण में मरे जितने हरे,
जन चौगुने उससे यहां दस वर्ष में भूखों मरे।।'

सौ वर्षों में इस दुनिया में युद्ध में जितने लोग मारे गये, इस देश में दस वर्ष में ही भूख से उससे अधिक लोग मारे गये हैं। तो यह वर्तमान कीचड़ से, दरिद्रता और दुर्भिक्ष से ग्रस्त है।

लेकिन इस दरिद्रता के परिणाम को गुप्त जी मानवीय पीड़ा के संदर्भ में नहीं बल्कि वर्ण व्यवस्था के टूटने के संदर्भ में देखते हैं। यह तकलीफ नहीं है कि इतने लोग भूख से मर रहे हैं। तकलीफ यह है कि इस दुर्भिक्ष के कारण ब्राह्मण अपनी पवित्रता की रक्षा नहीं कर पा रहा है। *'कुल जाति पाति न चाहिए यह सब रहे या जाए रे।'* यह दशा भूख ने कर दी है। लोग कहते हैं कि जाति पाति कुल की मर्यादा चाहे रहे या जाये हम इसकी कोई फिक्र नहीं करते। गुप्त जी की तकलीफ यही है कि भूख जैसी चीज के लिए जाति पाति तक को लोग छोड़ रहे हैं।

यह भी कविता का और चिंतन का अद्भुत विरोधाभास है कि जहां वैष्णवता बहुत प्रबल है वहां वर्ण व्यवस्था का समर्थन भी है। मनुष्य के जीवन और यातना से, कुल और जाति की मर्यादा गुप्त जी के यहां अधिक महत्वपूर्ण है, ऐसा आभास होता है। इसलिए वर्तमान की दुर्दशा का विश्लेषण यहां नहीं है। वर्तमान पर जो रचनाकार की दृष्टि है उस पर पुरातनवादी संस्कार हावी है। इसी कारण से वर्तमान दुर्दशा का एक संदर्भ भारत-भारती में गो-वध को भी कहा गया है।

यह एक बहुत भ्रामक धार्मिक संस्कार है। इस प्रकार जो गुप्त जी के वर्तमान बोध में आलोचनात्क भाव या विश्लेषणात्मक समग्रता का अभाव दिखाई देता है।

इतिहास पढ़ते समय हम देखते हैं कि जिस दौर में विश्व पूंजीवाद और देशी पूंजीवाद की टकराहट शुरू हुई वहां से स्वाधीनता आंदोलन जोर पकड़ता है। जितने भी पूंजीपति थे वे स्वाधीनता आंदोलन के साथ थे। इसकी वजह यह थी कि विश्व पूंजीवाद का दबाव उन पर अंग्रेजों के माध्यम से

बढ़ रहा था। इसलिए अपनी संपत्ति के विकास की इन्हें चिंता थी और इसके लिए देश का स्वाधीन होना अनिवार्य था। क्योंकि देश जब स्वाधीन होगा तब उसकी एक सुरक्षित आर्थिक नीति होगी। इसलिए राष्ट्रवाद की अवधारणा इसी देशी पूंजीवाद से पैदा हुई। उस दौर में जो पूरा लाभ विदेश में जा रहा है और यह हमारी दरिद्रता का कारण था। भारत भारती इस देश की वर्तमान दुर्दशा का कारण उस अर्थ व्यवस्था को मानती है जिस व्यवस्था का समूचा लाभांश एक दूसरा देश ग्रहण करता है। गुप्त जी कहते हैं – 'ऐसी दशा में देश की भगवान ही रक्षा करे।' यह जो बार बार ईश्वर पर भरोसे की चेतना है वह उनके वर्तमान बोध के यथार्थवाद के प्रति कहीं न कहीं शंका उत्पन्न करती है।

यह मैथिलीशरण गुप्त की समूची दृष्टि को एक **लीलावाद** में बदल देता है। समस्याएं दरिद्रता की हैं, वे भी वास्तविक हैं, समस्याएं व्यापार की हैं वे भी वास्तविक हैं, समस्याएं अविद्या और अशिक्षा की हैं, वे भी वास्तविक हैं। लेकिन ये समस्याएं गुप्त जी के अनुसार शायद वास्तविक नहीं हैं। ये समस्याएं भगवान की फैलाई हुई लीला है, इसलिए भगवान ही इन्हें समाप्त करेगा। यह भगवान की लीला है, तभी भगवान को कहा जा रहा है – 'मनुजत्व दो हमको दयामय, दुख दुर्बलता हरो।' इसलिए भगवान की कृपा से समस्याएं शुरू होती हैं और भगवान की कृपा से ही समाप्त होती हैं। इस भगवान को शामिल कर देने के कारण यह कृति जो हिन्दुस्तान के वर्तमान का एक विश्लेषणात्मक दस्तावेज हो सकती थी वह लीलावाद के एक प्रसंग विधान में बदल गयी है।

भविष्य खण्ड यहां से शुरू होता है जिसकी संभावनाएं अब भी हैं –

'अब भी समय है जागने का देख आंखें खोल के,
सब जग जगाता है तुझे जग कर स्वयं जय बोल के,
निःसत्य यद्यपि हो चुकी है किन्तु तू न मरी अभी,
अब भी पुनर्जीवन प्रदायक साज है सम्मुख सभी।'

उन संभावनाओं का आधार क्या है, किन तर्कों के आधार पर वह कह रहे हैं कि अभी भी समय है ? पहला आधार है **हमारे पूर्वज**। जो हारी हुई संभावनाएं हैं उनमें अभी भी प्राण शेष हैं – *'निज पूर्वजों का वह अलौकिक सत्य शील निहार लो।'* दो चीजों पर संभावनाएं टिकी हुई हैं एक तो

अपने पूर्वजों की कृतियों का साक्षात्कार और दूसरा अपनी वर्तमान की दुर्दशा का बोध। सिर्फ पूर्वजों को देख लेने से संभावनाएं नहीं बनेंगी. पूर्वजों को निहारो, उनकी कीर्ति को उनके यश को, उनकी सामर्थ्य को और उसके साथ-साथ अपनी वर्तमान दशा को भी देखो, यानी अतीत के प्रभाव का ग्रहण और वर्तमान बोध। एक बात तो इसमें तार्किक है कि अगर अपने वर्तमान के प्रति चैतन्यता नहीं है तो पुनर्निर्माण की सभी संभावनाएं खो जाती हैं। हम अपने को तभी बेहतर बनाने की कोशिश करते हैं, जब हम अपनी सीमाओं को जानते हैं।

फिर उन्होंने कहा कि निज पूर्वजों के सद्गुणों को यत्न से मन में धरो। अपने पूर्वजों के जो सद्गुण हैं उनको यत्न करके अपने मन में धारण करो। यह भाववादी दृष्टिकोण है। सद्गुण शब्द का कोई शाश्वत अर्थ नहीं होता। इसके अर्थ समय और इतिहास और समाज में बदलते हैं।

जीवित रहने या अपने को बनाने की संभावनाओं का दूसरा आधार है **हिन्दुओं का आदर्श**-

'हम हिन्दुओं के सामने आदर्श जैसे प्राप्त हैं,
संसार में किस जाति को किस ठौर वैसे प्राप्त हैं।'

'भव सिन्धु में निज पूर्वजों की रीत से ही हम तरें।' संसार रूपी सागर में हमारे हिन्दू पूर्वजों की जो रीतियां हैं उनके आधार पर ही हम इस संसार रूपी सागर को पार कर सकते हैं।

'यदि हो सके वैसे न हम अनुकरण तो भी करें।' अगर उस तरह न भी हो पाएं तो कम से कम अनुकरण तो हम कर ही सकते हैं।

तीसरा आधार बताया **बैर भाव का परित्याग** - *'सब बैर और विरोध बल बोध से वारण करो।'* जितने प्रकार के बैर और विरोध हैं सबको खत्म कर दो। यह बड़ा मासूम वक्तव्य है। क्योंकि यह बैर भाव इस देश की आर्थिक और सामाजिक संरचना के भीतर से पैदा हुआ है। जो परिवर्तन की अपेक्षित शर्तें हैं उन शर्तों के संदर्भ में गुप्त जी बिल्कुल तटस्थ हैं अथवा गुप्त जी के अनुसार भगवान के आदेश का पालन भी इस देश को बचाने या पुनर्जीवित करने का एक माध्यम है -

'हे भाईयो भगवान के आदेश का पालन करो,
अनुदान भाव कलंक रूपी पंक प्रक्षालन करो,

नवनीत तुल्य दयार्द्र हो सब भाइयों के ताप में,
सब में समझ कर आप को सबको समझ लो आपमें।'

एक और बात जो इस कृति में देश के परिवर्तन और संभावनाओं के संदर्भ में उठाई गई है वह है **शिक्षा**। गुप्त जी का यह मानना है कि जब तक अज्ञान खत्म नहीं किया जायेगा तब तक रास्तों की पहचान संभव नहीं है। इसलिए शिक्षा ही इस देश को नई मंजिलों की तरफ जाने के लिए प्रेरित करेगी। यही शिक्षा राष्ट्रभाषा के अभाव का बोध पैदा करेगी, *'है राष्ट्रभाषा भी अभी तक देश का कोई नहीं। हम निज विचार जान सकें जिसमें परस्पर सब कहीं।'* शिक्षा के द्वारा अनेक तरह की बात होंगी, विज्ञान विकसित होगा, राष्ट्रभाषा की अवधारणा विकसित होगी और इस तरह से हम नयी शिक्षा के माध्यम से नये देश और समाज का निर्माण कर पायेंगे। भारत भारती का अन्त, रचनाकार जैसे एक आकांक्षा के स्तर पर करता है, और यह आकांक्षा वैयक्तिक नहीं है। यह जैसे संपूर्ण भारतीय मनुष्य की सदइच्छा है कि ऐसा हो। भारत भारती समूचे स्वाधीनता आंदोलन का जैसे घोषणा पत्र है -

'विद्या कला कौशल्य में सबका अटल अनुराग हो,
उद्योग का उन्माद हो आलस्य अंध का त्याग हो।'
'सुख और दुख में एक सा सब भाइयों का भाग हो,
अन्तःकरण में गूंजता राष्ट्रीयता का राग हो।'
'आत्मावलंबन ही हमारी मृदुता का मर्म हो
परविप समर के हित सतत चारित्र रूपी वर्म हो,
भीतर अलौकिक भाव हो बाहर जगत का कर्म हो,
प्रभु भक्ति परहित और निश्छल नीति ही ध्रुव धर्म हो।'

कविता का अंत उस विश्वास और कामना के बिंदु पर होता है जहां पर सब जगह सौहार्द्र हो, सभी लोगों के मनोरथ सफल हों, आपस में प्रेम बढ़े और यह सब हो सकता है अगर हे प्रभु तुम्हारा आशीर्वाद हो।

भारत भारती का अंतिम हिस्सा 'विनय' में कवि कहता है -

'यह आर्य भूमि सचेत फिर कार्य भूमि बने अहा,

वह प्रीत नीति बढ़े परस्पर भीति भाव भगाइए.
किस के शरण होकर रहें अब तुम बिना गति कौन
हे देव अपनी दया फिर तू एक बार दिखाइए।'

ईश्वर की कृपा याचना से भारत भारती का अन्त होता है।

मूल्यांकन :

ब्रिटिशों द्वारा भारत को बर्र जातियों का देश कहा गया था। इसलिए इस कृति में अतीत के गौरव का स्मरण अपमानजनक टिप्पणियों और परिस्थितियों की प्रतिक्रिया के रूप में भी देखा जा सकता है। इस अतीत स्मरण के द्वारा मैथिलीशरण गुप्त नागरिक जीवन में उसके स्वाभिमान, प्रतिष्ठा और संघर्ष की चेतना का पुनर्वास करना चाहते हैं। इसलिए जो समूचा स्वाधीनता आंदोलन है वह कहीं प्रत्यक्ष स्तर पर और कहीं प्रतीकात्मक स्तर पर अतीत के गौरव को अपने वर्तमान में शामिल करता है। लोकमान्य गंगाधर तिलक के गणेश-पूजन और गांधी की दिनचर्या और जीवन पद्धति पर इस प्राचीनता की उपयोगिता की पहचान के निशान देखे जा सकते हैं। वस्तुत: भारत भारती में धर्म को लेकर, अतीत को लेकर, उसके गौरव को लेकर जो मोहासक्ति दिखाई देती है, उसका औचित्य वर्तमान संदर्भ में नहीं बल्कि तात्कालिक संदर्भ में ही समझा जा सकता है। इतिहास जब गुजर जाता है तो आने वाली पीढ़ियां उसे सूचना के रूप में जानती हैं अनुभव के रूप में नहीं। यह पता नहीं चलता कि उस इतिहास में अनुभव के जो जीवित संदर्भ थे वे क्या थे ? इसलिए भारत भारती को जब हम आज के संदर्भ में देखते हैं तो इसमें बहुत पिछड़ापन पर और एकांगीपन दिखाई देता है। लेकिन एक साम्राज्यवादी सत्ता के द्वारा अपने सभी प्रचार तंत्रों के माध्यम से एक देश को पिछड़ा, अशिक्षित और बर्बर सिद्ध करने की जो कोशिशें थीं, उनका सामना अतीत के गौरव के माध्यम से ही संभवत: किया जा सकता था। इसलिए मैथिलीशरण गुप्त के यहां अतीत विश्लेषण का विषय नहीं है बल्कि ऊर्जा का स्रोत है। इसी ऊर्जा के माध्यम से वे समाज में जागरण, संघर्ष और आत्मसम्मान का भाव पैदा करना चाहते हैं। इसलिए भारत भारती के अतीत खंड में इतिहास के उन्हीं पक्षों का चयन किया गया है जिनकी महान स्मृति लोकमानस में सुरक्षित है।

भारत भारती की **राष्ट्रीय चेतना** में आर्य श्रेष्ठता और हिन्दु चेतना का गहरा प्रभाव है। यह कृति 1912 में लिखी गई थी। देश बहुत शिक्षित नहीं था लेकिन फिर भी विवेकानन्द की गूंज थी और विशेषतौर पर 1893 में शिकागो सम्मेलन में उनका यह वक्तव्य चेतना में स्पंदन पैदा करने वाला था कि जहां दुनिया के सभी धर्मों का अंत होता है वहां से हिन्दु धर्म शुरू होता है। हिन्दुत्व को उन्होंने धर्म की राजनीति कहा था। दुनिया में एकमात्र धर्म है जो मानवीयता का प्रतिनिधि हो सकता है। उनके तर्कों में था कि यदि आप कुरान नहीं जानते तो आप मुसलमान नहीं हो सकते, बाइबिल को नहीं मानते तो आप इसाई नहीं हो सकते, लेकिन उन्होंने कहा कि हिन्दुओं में ऐसा कोई प्रावधान नहीं है। हिन्दुत्व में इतनी अधिक गुंजाइश है कि उसे धर्म नहीं कहा जा सकता। हिन्दुत्व एक जीवन पद्धति है। हिन्दुत्व की जो व्याख्या विवेकानन्द ने की थी उस व्याख्या के संदर्भ में अगर भारत भारती के हिन्दुत्व को देखा जाए तो वह साम्प्रदायिक दिखाई नहीं पड़ेगा।

भारत भारती की राष्ट्रीय चेतना में आर्य श्रेष्ठता, हिन्दु चेतना और वैदिक भावबोध की सम्मिलित भूमिका को रेखांकित किया जा सकता है। इस कृति की राष्ट्रीय चेतना की एक और विशेषता है कि इसकी प्रकृति **आस्तिक** है। नेहरू जो हिन्दुस्तान बनाना चाहते थे उसमें कहीं ईश्वर नहीं था। गांधी जो हिन्दुस्तान बनाना चाहते थे उसमें ईश्वर था। गांधी का बल बार-बार इस बात पर है कि प्रार्थना को शामिल किया जाना चाहिए। प्रार्थना विराट अथवा ईश्वर के साथ संवाद का माध्यम है। गांधी दरअसल एक आस्तिक भारत का निर्माण करना चाहते थे। इसलिए इस कृति में भी भगवान से दया याचना का भाव परिलक्षित होता है।

भारत भारती की राष्ट्रीय चेतना में देश की **वर्तमान दुर्दशा** के प्रति एक गहरी चिंता और पीड़ा का भाव है। अगर भारत भारती की राष्ट्रीय चेतना में वर्तमान दुर्दशा के प्रति पीड़ा का भाव न होता तो संभवत: यह रचना एक नारा होती। लेकिन वर्तमान की चिंता इस कृति को राष्ट्रीय चेतना के आधारभूत सरोकारों से जोड़ती है। वर्तमान खंड में शिक्षा के स्तर पर, समाज के स्तर पर, राजनीति के स्तर पर तमाम तरह की अवनतियों, दुर्गति और पतन के संदर्भ में इस कृति की राष्ट्रीय चेतना को देखा जा सकता है। भारत भारती की राष्ट्रीय चेतना का एक महत्वपूर्ण

परिप्रेक्ष्य है **भविष्य**। इस कृति में भविष्य समय नहीं है **बल्कि** एक आकांक्षा है। यह रचनाकार भविष्य में जिस प्रकार के भारत का निर्माण करना चाहता है उस भावी भारत के निर्माण का माध्यम है **शिक्षा**। मध्यकाल से लेकर आधुनिक काल तक कविता में जहां कहीं भी देश और **समाज को लेकर स्वप्न हैं, वहां शिक्षा का उल्लेख किया गया है।** तुलसीदास ने रामराज्य की चर्चा करते हुए उसके लक्षणों पर जब बातचीत की तो एक चौपाई लिखी - 'नहीं दरिद्र कोइ दुखी न देना, नहीं कोइ अबुध न लक्षण हीना।' और मैथिलीशरण गुप्त आधुनिक काल में इसी शिक्षा को भावी राष्ट्र निर्माण का कारक मानते हैं। लेकिन भविष्य का यह जो मानचित्र है वह अतीत में परिवर्तन की आवश्यकता को रेखांकित नहीं करता। वे एक संशोधित समाज की प्रस्तावना करते हैं। इस बिंदु पर यह सवाल सामने आता है कि क्या व्यवहारिक स्तर पर एक नितांत नये समाज की रचना संभव है ? व्यावहारिक स्तर पर नया समाज एकाएक नहीं बन सकता, कितनी भी बड़ी क्रांति हो जाये। आदमी ही नया नहीं हो सकता तो समाज एकाएक बदल जाए ऐसा होता नहीं है।

भारत भारती में ऐसे समाज की परिकल्पना है जिसमें एक तो वेद के उपदेश का चारों तरफ प्रसार हो, मतैक्य हो, सभी अपना अपना ईष्ट फल पावें, प्रेमपूर्वक रहें और विकास के मार्ग को प्रशस्त करें। यह कृति प्रार्थना पर खत्म होती है। शीर्षक दिया गया है, 'विनय' और इस प्रार्थना का जो निहितार्थ है - 'यह आर्य भूमि सचेत हो।' बेहोशी है, बेहोशी की वजह आपाधापी है, *'फिर कर्म भूमि बनाइए, बनें अहा वह प्रीति नीति बढ़े परस्पर भीति भाव भगाइए।'* प्रीति और नीति का विकास हो, देश से, समाज से, लोगों से डर चला जाए। **आकांक्षा और प्रार्थना के बिंदु पर भारत भारती का समापन राष्ट्रीयता को एक राजनीतिक परिप्रेक्ष्य नहीं बल्कि एक सांस्कृतिक संदर्भ देता है।** इसलिए भारत भारती की राष्ट्रीयता राजनीतिक नहीं मूलत: सांस्कृतिक है। इसलिए कहा जा सकता है कि भारतीय स्वाधीनता आंदोलन में देश की परम्परा, उसकी जातीय चेतना और भविष्य को लेकर जिन सपनों के ताने बाने बुने गये उसकी एक स्पष्ट रूपरेखा इस कृति में दिखाई देती है। कविता अगर अपने समय का दस्तावेज और मानवता के लिए एक प्रार्थना है तो इस संदर्भ में भारत भारती निश्चय ही हमारी रचनात्मक सांस्कृतिक और राष्ट्रीय बोध की एक अमूल्य धरोहर है।

कामायनी (जयशंकर प्रसाद)

1. कथानक चयन का औचित्य :
2. कामायनी की कथा
3. कामायनी की रूपक या प्रतीक योजना
4. कामायनी का महाकाव्यत्व
   - वस्तु योजना
   - पात्र योजना
   - समय के मूलभूत संकटों की पहचान और उनका समाधान
   - शिल्प योजना
5. कामायनी में दर्शन और काव्य का समन्वय
6. कामायनी की आधुनिकता
7. उपभोक्तावादी संस्कृति और कामायनी
8. श्रद्धा सर्ग के आधार पर प्रसाद का जीवन–दर्शन
9. छायावादी विशेषताओं के संदर्भ में कामायनी

कामायनी

कथानक चयन का औचित्य :

कामायनी आधुनिक हिन्दी कविता का महाकाव्य है और हिन्दी आलोचना का सर्वाधिक विवादास्पद और चर्चित ग्रन्थ भी। कामायनी की शक्ति और सीमाओं की खोज शुक्ल जी से लेकर शुक्लोत्तर आलोचना में निरंतर दिखाई देती है।

वस्तुतः कामायनी क्या है, यह किस लिए लिखी गई है और इतनी चर्चित क्यों है ? इन बातों को जानना अनिवार्य हैं। कामायनी श्रद्धा को कहते हैं जो इस कृति की महत्वपूर्ण पात्र है। एक और बात ध्यान रखने की है कि कामायनी वैदिक कथानक पर आधारित कृति है।

कामायनी के आमुख में प्रसाद इस वाक्य से शुरू करते हैं कि आर्य साहित्य में मानवों के आदिपुरुष मनु का इतिहास वेदों से लेकर पुराणों और इतिहासों में बिखरा हुआ मिलता है। कामायनी एक ऐसी कथा है जिसके सूत्र वैदिक साहित्य से लेकर पौराणिक साहित्य तक में दिखाई देते हैं। उसी वैदिक साहित्य की एक पात्र श्रद्धा है। श्रद्धा चूंकि काम–गोत्रजा है, काम की वंश परम्परा की संतान है, इसलिए श्रद्धा को कामायनी भी कहा जाता है। श्रद्धा के नाम के आधार पर इस कृति को भी नामांकित किया गया है।

कथा वेदों से पुराणों तक में बिखरी हुई है। कोई व्यवस्थित कथा नहीं दिखाई पड़ती। ऋग्वेद से लेकर पुराणों तक में मनु, श्रद्धा और इड़ा की कथा टुकड़ों में दिखाई देती है। कथा के इन बिखरे हुए सूत्रों को जोड़कर कामायनी की रचना की गई है।

कामायनी 1926–27 से लिखी जा रही है और 1936 में प्रकाशित है। 10 वर्षों के अंतराल में इस रचना को पूर्णता दी गई है। इसलिए बहुत सीधा और सहज प्रश्न दिमाग में आ सकता है कि समाज और इतिहास के जिस दौर में स्वाधीनता आंदोलन चल रहा है, प्रेमचन्द 'रंग भूमि' और 'कर्म भूमि' लिख रहे हैं, वैसे दौर में एक वैदिक और पौराणिक कथा के बिखरे सूत्रों को जोड़ने की जरूरत क्यों महसूस हुई होगी ? प्रसाद पर वे कौन से रचनात्मक दबाव होंगे जो उन्हें वैदिक काल में ले गये होंगे। इस सवाल से गुजरे बिना कामायनी के केन्द्रीय अर्थ प्रदेश में उतरना संभव नहीं है।जानना चाहिए कि वस्तुतः वे दबाव कौन से हैं?

इसकी वजह थी कि प्रसाद मनुष्य के जीवन की समस्याओं को शाश्वत मानते थे। जितनी भी समस्याएं हैं वे तात्कालिक नहीं है, शाश्वत समस्याएं हैं : जैसे भाव और बुद्धि का द्वन्द्व, भौतिक

इच्छाएं, बाहरी विकास और भीतरी विकास, भोगवाद बनाम ज्ञान और आन्तरिक संयम – ये मात्र वर्तमान की समस्याएं नहीं हैं। अगर संक्षेप में कहें तो भाव और बुद्धि, भोग और ज्ञान, भौतिकता और आध्यात्मिकता, इन युग्मों में इतिहास के हर मोड़ पर मनुष्य घिरा हुआ दिखाई देता है। और प्रसाद के समय में यह सवाल बहुत महत्वपूर्ण था। यह मानवीय सवाल होने के साथ साथ सांस्कृतिक सवाल भी था, क्योंकि पश्चिमी संस्कृति और भारतीय संस्कृति के मूल्य आमने सामने थे। यांत्रिकता और भौतिकता के साथ साथ भारतीय भाववाद के तर्क और विश्वास थे। इसलिए प्रसाद को ऐसे कथानक को चुनने की आवश्यकता महसूस हुई जिसमें तात्कालिकता को भी शाश्वतता का अंग बनाया जा सके। बुद्धि और भाव, भौतिकता और आध्यात्मिकता, भोग और ज्ञान, प्रसाद की तात्कालिक समस्याएं थीं। इन समस्याओं को उन्होंने शाश्वत परम्परा से जोड़ा और इसके लिए एक ऐसे कथानक या घटना का चुनाव किया जो कथानक मनुष्य की समस्याओं को एक शाश्वत आधार देता है। इसलिए उन्होंने मनु को चुना क्योंकि मनु मानव सभ्यता के प्रवर्तक हैं। इस मनु को वैवस्वत मनु भी कहा गया है क्योंकि कई मनु हैं। कई बार प्रलय हुआ है। अंतिम सातवें प्रलय में जो मनु बचे रहते हैं उन्हीं से मानव सभ्यता की शुरूआत होती है। इसलिए वैवस्वत मनु के माध्यम से उन्होंने मनु की सभ्यता की प्राचीनतम और नवीनतम समस्याओं को उठाने की कोशिश की।

इसके साथ साथ प्रसाद एक ऐसी रचना प्रस्तुत करना चाहते थे जिसमें वे अपने जीवन दर्शन को प्रस्तुत कर सके। मुक्तकों में चूंकि जीवन दर्शन अपने सम्पूर्ण रूप में प्रस्तुत नहीं हो पाता, इसलिए प्रसाद को एक प्रबन्ध काव्य लिखने की आवश्यकता महसूस हुई होगी। इस कृति के माध्यम से उन्होंने अपनी विश्व दृष्टि और जीवन दृष्टि की प्रस्तुति की।

तीसरा उद्देश्य भी हो सकता है कि इस कृति के माध्यम से प्रसाद भारतीय संस्कृति की दिशाओं, प्रकृतियों और विशिष्टताओं को व्याख्यायित करना चाहते हों। इसके लिए उन्हें सबसे उपयुक्त मनु की कथा लगी। हम देखते हैं कि मनु बनाम श्रद्धा की कथा में मानव जीवन की सार्वभौमिक सनातन शाश्वत समस्याओं को मानने और उनका समाधान पाने की कोशिश की गई है।

कथा :

कामायनी की कथा में कई मोड़ और सूत्र है। प्रलय हो गया है और उस प्रलय में एकमात्र बचे हुए मनु हिमालय की एक शिलाखण्ड की छाँह में, अकेलेपन में डूबे हुए, भरी हुई आंखों से प्रलय के उतरते हुए जल प्रवाह को देख रहे हैं। सब कुछ नष्ट हो गया है। चिंता सर्ग में प्रसाद ने उल्लेख किया है कि नष्ट होने से पूर्व एक बहुत उन्नत सभ्यता थी जिसे 'देव सभ्यता' कहा गया

है। यह उन्मत्त भोग और विलास पर आधारित सभ्यता थी। भोगवाद का अतिरेक प्राकृतिक संतुलन को नष्ट करता है। भोगवाद व्यक्तियों में और समाज में एक विकृत अहंकार चेतना की सृष्टि करता है। उसे आत्मकेन्द्रित बनाता है और इस स्थिति में प्रकृति विद्रोह करती है और वह पूरी सभ्यता नष्ट हो जाती है। चिंता सर्ग में मनु उस सभ्यता के बारे में सोच रहे हैं जिसके वे बचे हुए अंश हैं। कामायनीकार ने संकेत दिया है कि जिस सभ्यता के अवशेष मनु हैं वह भोगवादी सभ्यता थी। पूरा का पूरा चिंता सर्ग सूचना देता है कि किस तरह की सभ्यता थी और किस तरह प्रलय हुआ। इस तरह एक नितांत विकृत, अनियंत्रित, आत्म केन्द्रित सभ्यता को प्रलय ने ध्वस्त कर दिया।

चिंता सर्ग के बाद प्रसाद ने आशा सर्ग की रचना की है। यह संभावना प्रकृति में भी है और मन में भी है। इसलिए जिस प्रकृति ने सब कुछ नष्ट कर दिया था, जो प्रकृति प्रलय में इतनी अनियंत्रित और क्रूर हो सकती है वह प्रलय के बाद बहुत शांत हुई और सौन्दर्य की एक अद्भूत आभा लेकर फिर धरती पर अवतरित हुई। आशा सर्ग की पंक्ति यों शुरू होती है –

उषा सुनहले तीर बरसती जय लक्ष्मी सी उदित हुई
उधर पराजित कालरात्रि भी जल में अन्तर्निहित हुई।
वह विवर्ण मुख त्रस्त प्रकृति का आज लगा हंसने फिर से,
वर्षा बीती, हुआ सृष्टि में शरद–विकास नये सिर से।

इसी आशा सर्ग में बैठे हुए मनु के मन में कुछ प्रश्न आए। प्रश्न यह था कि वह कौन है जो इतनी बड़ी सृष्टि को संचालित और नियंत्रित करता है। जिन देवताओं को मान लिया गया है, उन्हें कौन सी शक्ति संचालित करती है और क्या इस शक्ति को बुद्धि से जाना जा सकता है ? उन्हें अपनी दक्षता का बोध होता है और फिर मनु जीवन शुरू करते हैं। उनमें पहले वाले संस्कार थोड़े बहुत मौजूद हैं। वे 'चिंता' में जड़ होकर बैठे हुए थे, 'आशा' में जब प्रलय का पानी उतरता है तो मन में थोड़ा सा उत्साह आता है। कर्म शुरू करते हैं। कुछ लकड़ियां इकट्ठी करते हैं, जलाते हैं, आसपास के थोड़े अन्न और फल चुनते हैं। जिंदगी शुरू होती है। कुछ खाने में से बचाकर कुछ सामान वे कहीं दूर रख आते हैं कि शायद कोई बचा हुआ मेरी तरह होगा तो उसको यह खाना उपलब्ध हो जायेगा और जीवन बचा रहेगा।

लेकिन जीवन बहुत अकेला है और इसी पृष्ठभूमि में तीसरे सर्ग में 'श्रद्धा' का आगमन होता है। एकदम असंभावित आवाज प्रश्न के रूप में सुनाई पड़ती है – *"कौन तुम ? संसृति जल निधि तीर–तरंगों से फेंकी मणि एक।"* तुम संस्कृति के सागर के किनारे कौन हो, जिसे समुद्र ने मणि की तरह फेंक दिया है। यानी मनु को वह संसार रूपी सागर से फेंकी गई मणि की तरह देखती है।

सबसे मूल्यवान ! क्योंकि सब नष्ट हो चुका है। *'कर रहे निर्जन का चुपचाप प्रभा की धारा से अभिषेक'*। प्रलय की उतरी हुई लहरों से तुम निर्जनता का अभिषेक कर रहे हो। कौन हो तुम ? फिर जब मनु ने मुड़कर देखा तो प्रसाद ने जो कविता लिखी वह हिन्दी कविता की परम्परा में जो सौन्दर्य चित्रण है, उस संदर्भ में अप्रतिम पंक्तियां मानी गयी हैं – *"और देखा वह सुन्दर दृश्य नयन का इन्द्रजाल अभिराम।"* मुड़कर देखा तो लगा कि एक स्त्री नहीं बल्कि एक इन्द्रजाल दिखाई पड़ रहा है। जादू की तरह श्रद्धा दिखाई पड़ी। *"कुसुम–वैभव में लता समान चन्द्रिका से लिपटा घनश्याम।"* ऐसी दिखाई पड़ रही है जैसे घनी लताओं में कोई फूल खिल रहा हो। श्रद्धा का जो वस्त्र है वह नीले रंग का मृगछाल है। तो दो उपमाएं तुरंत उत्प्रेक्षा में आई। एक तो लताओं में खिला हुआ फूल है या फिर बादलों में लिपटा हुआ चांद है, यह मन अभी स्थिर नहीं कर पाया। *"हृदय की अनुकृति बाह्य उदार, एक लम्बी काया, उन्मुक्त।"* शरीर बहुत छरहरा और लम्बा है और हृदय भी उतना ही विशाल और उतना ही सुन्दर है जो शरीर के गठन में छलक गया है। *"मधु–पवन–क्रीड़ित ज्यों शिशुसाल, सुशोभित हो सौरभ संयुक्त।"* ऐसा लगता है कि मधु मीठी हवाओं में जैसे एक शाल का वृक्ष खेल रहा है।

श्रद्धा मनु के बारे में जानना चाहती है। मनु उत्तर देते हैं कि मैं नहीं जानता कि कहां से आया हूं, मैं नहीं जानता कि कहां जाऊंगा, मैं नहीं जानता कि मेरे होने का अर्थ क्या है ? मनु अपने अकेलेपन, अधूरेपन, अपने भाग्य की अभिशप्तता से शुरू करते हैं। इसलिए श्रद्धा द्रवित होती है। श्रद्धा सर्ग कामायनी के जीवन दर्शन का प्रतिपाद्य सर्ग है। मानसिक स्तर पर बिल्कुल थके हुए निरुपाय लक्ष्यहीनता के दंश से आहत मनु को श्रद्धा सान्त्वना देती है, संदेश देती है, कर्म की प्रेरणा देती है और उनके जीवन को एक विराट लक्ष्य से जोड़ती है। लक्ष्य का खो जाना चेतना के स्तर पर जीवन की मृत्यु है। लक्ष्य जितना बड़ा होगा जीने की इच्छा और जीने की उर्जा भी उतनी ही बड़ी होगी। इसलिए श्रद्धा सर्ग की अंतिम पंक्तियां इस संदेश पर खत्म होती हैं –

"शक्ति के विद्युत कण जो व्यस्त, विकल बिखरे हैं हो निरुपाय,
समन्वय उसका करे समस्त विजयीनी मानवता हो जाये।"

शक्ति के विद्युत कण जो चारों तरफ बिखरे हुए हैं उनको इकट्ठा करो। ऊर्जा केन्द्रों को जो विघटित हो गये हैं, जीवन की सृजनात्मकताएं, जीवन के मूल्य जो प्रलय के कारण खंडित हो गये हैं, सबको इकट्ठा करो, ताकि मनुष्यता विजयी हो सके। वह जीवन का लक्ष्य देती है और इस तरह से श्रद्धा और मनु के साहचर्य में काम चेतना का उदय होता है।

काम की यह चेतना मनु के जीवन में ऊर्जा का, इच्छा का, कर्मठता का और सौन्दर्य की भावना का संचार करती है। काम उर्जा के रूप में मनु की चेतना में संचरित होता है और फिर इस काम की स्वाभाविक परिणति वासना में होती है। काम जब देह की इच्छा में संक्रमित होता है तब वासना होती है और जब वह चेतना के उदात्त केन्द्र में संक्रमित होता है तब वह अध्यात्म होता है। काम ही मनुष्य को अध्यात्म की तरफ या वासना की तरफ प्रेरित करता है। इसलिए प्रसाद ने काम सर्ग के माध्यम से काम की भूमिका का मनुष्य के जीवन में और मनुष्य की साधना में काम का जो महत्त्व है, उसको रेखांकित किया है।

मनु और श्रद्धा काम चेतना से आवेशित होने के बाद 'वासना' के आवेश में प्रवेश करते हैं। यहां पर आकर प्रसाद मनोविज्ञान के स्तर पर स्त्री के मानसिक अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण करते हैं। वासना का भाव स्त्री की देह और मन में लज्जा बन कर उभरता है। वासना सर्ग की अंतिम पंक्तियां हैं –

'गिर रही पलकें झुकी थीं नासिका की नोक,
भ्रू लता थी कान तक चढ़ती रही बे रोक,
स्पर्श करने लगी लज्जा ललित कर्ण कपोल,
खिला पुलक कदम्ब सा था, भरा गद गद बोल।'

जैसे वासना ने देह का मौसम बदल दिया हो, उसके संकेत किए गए हैं। पलकें झुकी हुई थीं नाक की नोंक पर झुकी पलकें, यह स्त्री के मन और शरीर में उत्पन्न हुई कामेच्छा का एक प्रतीक चिह्न है।

इस तरह से वासना की इस मनःस्थिति में नारी के मन के अन्तर्द्वन्द्व को, प्रसाद 'लज्जा' सर्ग में चित्रित करते हैं। यह संयम और समर्पण की इच्छा के बीच का अन्तर्द्वन्द्व है। वह अपने को संभालना चाहती है, मन संभालना चाहता है, लेकिन तन समर्पित होने के लिए बाध्य करता है। इसलिए कई पंक्तियां ऐसी हैं जो वासनानुभूति के प्रगाढ़ क्षणों में स्त्री के मन के अन्तर्द्वन्द्व को बहुत खूबसूरती के साथ प्रस्तुत करती हैं, जैसे –

"यह आज समझ तो पाई हूं मैं दुर्बलता में नारी हूं
अवयव की सुन्दर कोमलता लेकर मैं सबसे हारी हूं।
पर मन भी क्यों इतना ढीला अपने ही होता जाता है,
घनश्याम खण्ड सी आंखों में क्यों सहसा जल भर आता है।"

स्त्री संबंध के प्रगाढ़तम क्षणों में अपनी कमजोरी के मिठास को स्वीकार करती है।

आगे के सर्गों में लज्जा के बाद आता है 'कर्म' सर्ग। मनु धीरे–धीरे इस साहचर्य के अभ्यस्त हो जाते हैं, शिकार खेलने लगते हैं। आकुलि और किलात ये दो असुर पुरोहित हैं जिनसे मुलाकात होती है। वे मनु को हिंसक यज्ञ के लिए प्रोत्साहित करते हैं जिसमें पशुओं की बलि दी गई है। श्रद्धा गर्भवती है। दो स्थितियां पैदा हो गयी हैं। एक तो मनु बहुत व्यस्त रहने लगे हैं। वे कहते हैं कि इतना जीवन पर्याप्त नहीं है। जीवन का विस्तार होना चाहिए। जीवन को ज्यादा क्रियाशील होना चाहिए। वे शिकार खेलते हैं, यज्ञ करते हैं और इस प्रक्रिया में महसूस करते हैं कि श्रद्धा का प्रेम कम होने लगा है। गर्भधारण करने के बाद श्रद्धा में चूंकि ममत्व का उदय होता है इसलिए वह आसपास के जीव जंतुओं को बच्चों की तरह प्यार करती है और इस तरह से मनु के मन में ईर्ष्या का उदय होता है।

सातवें सर्ग का नाम रखा गया है 'ईर्ष्या'। हिंसक होने के साथ साथ मनु बहुत उद्दण्ड और उद्धत भी हो गये हैं। वे अपने अहंकार को स्थापित करना चाहते हैं। श्रद्धा जो भी कहती है उसके विपरीत मनु का आचरण होता है। श्रद्धा की भावनाओं को तोड़ना जैसे मनु के जीवन का एक लक्ष्य हो जाता है। श्रद्धा तमाम कटुताओं के बावजूद संबंधों को जीना चाहती है, संबंधों को निभाना चाहती है। लेकिन अंततः मनु इस स्थिति को सहन नहीं कर पाते और वे गर्भवती श्रद्धा को छोड़ कर अन्यत्र चले जाते हैं। वे ऐसे प्रदेश में जाते हैं जो खण्डहरों से भरा हुआ है। इन खण्डहरों में चूंकि अंधकार है और बहुत अकेलापन है, वे जीवन की नकारात्मक स्थिति का साक्षात्कार करते हैं।

इस परिवेश के साथ 'इड़ा' सर्ग शुरू हुआ है। इड़ा सर्ग में दो चीजें घटित होती हैं। एक तो काम का अभिशाप है। इस अभिशाप में कहा गया है कि तुम जीवन भर शांत नहीं हो पाओगे और दूसरी महत्वपूर्ण घटना है इड़ा से मिलना। एक दिन प्रलय के बाद मनु ने श्रद्धा को देखा था, एक दूसरा दिन है जिसमें वे फिर एक स्त्री को देखते हैं। दोनों रूपों में बहुत फर्क है। एक को जब उन्होंने देखा तो दिखाई पड़ा 'नयन का इन्द्रजाल अभिराम।' यहां पर एक स्त्री दिखाई देती है– 'बिखरी अलकें ज्यूं तर्क जाल'। तर्क जाल की तरह जिसकी अलकें बिखरी हुई हैं। यह एक आधुनिक स्त्री है। पहली ही पंक्ति में स्वभाव की तरफ संकेत कर दिया गया है। स्वभाव बुद्धिवादी है। यह इड़ा बुद्धि का प्रतीक है। इड़ा मनु को साथ ले जाती है। वह मनु को संदेश देती है कि तुम्हें खुद अपनी सहायता करनी चाहिए। तुम्हें अपनी बुद्धि से जीवन के निर्णय और जीवन की दिशाओं का चुनाव करना चाहिए। उसका तर्क है कि जो 'बुद्धि कहे उसको न मानकर फिर किसकी नर शरण जाये।' इस तरह से यह जो समस्त सृष्टि है, इस सृष्टि का नियमन करना

चाहिए। सृष्टि को व्यवस्थित करना चाहिए और उस पर शासन करना चाहिए। फिर इड़ा की सहायता से मनु एक नयी सभ्यता का निर्माण करते हैं। इस सभ्यता में आधुनिक सभ्यता के बिन्दु दिखाई देते हैं – यांत्रिकता, प्रजातंत्र, यांत्रिकता के भीतर ही मशीनी उत्पादन, विकास की नयी स्थितियां। मनु प्रजापति बनते हैं लेकिन मन से तानाशाह हैं। इसलिए वे इड़ा को अंकशायिनी बनाना चाहते हैं। उनका तर्क है कि मैं कानून बनाता हूं इसलिए मैं कानून से ऊपर हूं। मेरी हर इच्छा का पालन होना चाहिए। जनता में खबर फैलती है कि मनु दुराचारी हैं। इसलिए देवताओं की कोप दृष्टि के साथ जनता विद्रोह करती है।

'संघर्ष' सर्ग इस स्थिति को दिखाता है। उस संघर्ष में मनु अन्ततः पराजित होते हैं और फिर मनु की इस पराजय और घायलावस्था को श्रद्धा स्वप्न में देखती है। वह आती है और उनको उठाकर ले जाती है, सेवा–सुश्रुषा करती है। एक पुत्र पैदा हुआ है जिसे कुमार नाम दिया गया है। मनु के मन में ग्लानि और निर्वेद का भाव पैदा होता है, पश्चाताप का भाव पैदा होता है। अपनी सीमाओं, नीचताओं और हीनताओं का बोध होता है।

इसलिए वे श्रद्धा और कुमार को छोड़ कर निर्वेद सर्ग में एक गुफा में चले जाते हैं। लेकिन श्रद्धा उन्हें खोज लेती है समझाती है।

'दर्शन' सर्ग में हीनता की ग्रन्थि से जूझते हुएँ मनु को वह फिर समझाती है और कुमार को इड़ा के पास छोड़ कर और मनु की बांह पकड़ कर कैलाश के आरोहण पर ले जाती है।

यहाँ कामायनी के अंतिम दो सर्ग हैं 'जिन्हें रहस्य' और 'आनंद' के रूप में जाना जाता है। आरोहण की प्रक्रिया में जब एक खास बिंदु पर मनु पहुंचते हैं तो नीचे देखते हैं। उन्हें तीन तरह के लोक दिखाई पड़ते हैं – इच्छा का, कर्म का, ज्ञान का लोक। रहस्य सर्ग में इन तीनों के रंग के बारे में, तीनों की गतिविधियों के बारे में, तीनों की प्रकृति के बारे में पूछा गया है और श्रद्धा उसका उत्तर देती है। इसी रहस्य सर्ग में श्रद्धा समझाती है कि जीवन के दुख का कारण क्या है –

"ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न है।
इच्छा क्यों पूरी हो मन की,
एक दूसरे से न मिल सकें यह विडम्बना है जीवन की।"

वैयक्तिक और मनोवैज्ञानिक स्तर पर आदमी की तकलीफ का मूल कारण है इच्छा, क्रिया और ज्ञान की संबंधहीनता। सामाजिक व्यवस्था के स्तर पर राजनीति, धर्म और विज्ञान में कोई संबंध नहीं है। ये जब तक एक दिशा में, एक लक्ष्य के लिए समन्वित नहीं होंगे तब तक व्यवस्था विडम्बना के

गिरफ्त में रहेगी। मनु समझ जाते हैं लेकिन समझने से तकलीफ खत्म नहीं होती। तब श्रद्धा मुस्कुराती है और उसकी मुस्कुराहट में जो तीनों लोक हैं वे खो जाते हैं और एक हो जाते हैं।

इस तरह से आनंद सर्ग में पहुंचकर मनु उस लोक में पहुंचते हैं जहां कामायनी खत्म होती है – 'समरस थे जड़ या चेतन, सुन्दर साकार बना था।'
चेतनता एक विलसती आनंद अखंड घना था।।

कामायनी की रूपक–योजना या प्रतीकात्मकता

क्या प्रतीकात्मकता और रूपकतत्व एक ही है या दोनों में कोई फर्क है ? इसे सैद्धांतिक स्तर पर समझ लेना चाहिए।

रूपक का अर्थ होता है द्वैयर्थिक कथा। द्वैयर्थिक कथा का अर्थ होता है ऐसी कथा जिसका कोई दार्शनिक और आध्यात्मिक संदर्भ भी हो तथा जिसका एक लौकिक आधार भी हो। बहुत सरल रूप से हम कहें तो रूपक एक ऐसी कथा है जिसके दो अभिप्राय होते हैं। प्रत्यक्ष स्तर पर उस कथा का आधार ऐतिहासिक हो सकता है, लौकिक भी हो सकता है लेकिन अप्रत्यक्ष स्तर पर वह किसी आध्यात्मिक या दार्शनिक अभिप्राय की व्यंजना करती है। इस दृष्टि से कामायनी की रूपक योजना पर विचार किया जा सकता है।

प्रतीकात्मकता के लिए कथा हो यह अनिवार्य नहीं है। रूपक अनिवार्यतः कथा होगी। रूपक में दो कथा होती हैं प्रतीकात्मकता में दो अर्थ होते हैं। इसलिए रूपक हमेशा प्रबन्धात्मक होगा। प्रतीकात्मकता मुक्तक हो सकती है। लेकिन जाहिर है कि रूपक में भी प्रतीक आयेंगे क्योंकि रूपक की जो कथा है उस कथा में पात्र होंगे, घटनाएं होंगी, स्थितियां होंगी। इसलिए अपने विस्तार और विश्लेषण में रूपक अनिवार्यतः प्रतीक धर्मी होता है। क्या कामायनी को रूपक कहा जा सकता है ? इस प्रश्न के समाधान के लिए, पहले कामायनी की कथा देखनी पड़ेगी।

कामायनी के 'आमुख' में प्रसाद ने इसके कथा स्रोतों की ओर संकेत करते हुए लिखा है कि मानवता के नवयुग के प्रवर्तक के रूप में मनु की कथा आर्यों की अनुश्रुति में दृढ़ता से मानी गई है। इसलिए वैवस्वत मनु को ऐतिहासिक पुरुष मानना ही उचित है। यानी कामायनी की कथा का आधार ऐतिहासिक है।

इस आमुख में प्रसाद ने दूसरा संकेत दिया है कि ऐतिहासिक कथा होते हुए भी इस कथा का एक दूसरा अर्थ भी हो सकता है – *"यदि श्रद्धा और मनु अर्थात् मनन के सहयोग से मानवता*

का विकास रूपक है, तो भी बड़ा ही भावमय और श्लाघ्य है। यह मनुष्यता का मनोवैज्ञानिक इतिहास बनने में समर्थ हो सकता है।" इसका अर्थ है कि कामायनी की कथा दो अर्थों की समानांतर यात्रा करती है। ऊपरी स्तर पर यह ऐतिहासिक और पौराणिक कथा है और आंतरिक स्तर पर यह मनुष्यता के विकास की मनोवैज्ञानिक कथा है।

अब रूपक का संबंध यहां से शुरू हुआ कि यह कथा दो अभिप्रायों का संधान करती है। एक प्रत्यक्ष अभिप्राय है जिसमें इतिहास और पुराण है, दूसरा अप्रत्यक्ष है जिसमें मनोविज्ञान है। कामायनी की कथा आन्तरिक स्तर पर मनुष्य का मनोवैज्ञानिक इतिहास है। आदमी और व्यक्ति का आरंभिक दिन और उसकी यात्रा की संभावना का अंतिम दिन, पूरी कथा इन दो बिंदुओं में संचालित होती है। इसलिए जो अंतिम बिन्दु है वह संभावना है और जो आरंभिक बिंदु है वह यथार्थ है। यह कथा यथार्थ और संभावना के बीच की यात्रा–कथा है। यह मानवीय अपूर्णताओं से पूर्णताओं के चरम बिन्दु तक पहुंचने की कथा है। अन्ततः मनु समरसता एवं आनंद तक पहुंचता है। आनंद की उपलब्धि ही जीवन का साध्य है।

इस दोहरे छिपे हुए अर्थ की कई व्याख्याएं की गई हैं। कुछ लोगों ने इसे मन के स्तर पर देखा है। यह 'अन्नमय कोश' से आनंदमय कोश तक पहुंचने की प्रतीक कथा है। शैव–दर्शन में जीवन के अनेक स्तर माने गये हैं जिन्हें कोश कहा जाता है। अपने जैविक स्तर पर मनुष्य सामान्यतः अन्नमय कोश में होता है। अन्नमय कोश में जो होता है उसे भाव के अतिरिक्त और जैविकता के अतिरिक्त शेष दुनियों का बोध नहीं होता। वल्लभाचार्य के शब्दों में यह प्रवाह जीव होता है। दूसरा कोश जो थोड़ा ऊपर होता है 'मनुमय कोश' है। इसके बाद 'प्राणमय कोश' होता है। प्राणमय कोश के बाद तीसरा कोश आता है जिसे 'विज्ञानमय' कहा जाता है और अन्ततः आनंदमय कोश है। मनु इन्हीं प्रक्रियाओं से गुजरते हैं। इसलिए मन की यात्रा की दार्शनिक व्याख्या है कामायनी।

एक और अर्थ कहा गया है शैवाद्वैत के आधार पर। शैवाद्वैत की मूल स्थापना यह है कि जीवन आनंद का पर्याय है। आनंद एकमात्र सत्य है। चारों तरफ एकमात्र वही है लेकिन फिर भी वह उपलब्ध नहीं हो पाता क्योंकि मनुष्य के मन में भेद बुद्धि है। शैवाद्वैत कहता है कि मूल समस्या व्यक्ति का खंडित मन और खंडित जीवन है। इसलिए आनंद की समग्रता की उपलब्धि संभव नहीं है। इच्छा, क्रिया और ज्ञान इन तीनों में टूटा हुआ मनुष्य है। इसलिए आनंद की अनुभूति असंभव है। जैसे ही इच्छा, क्रिया और ज्ञान का द्वैत खत्म होता है वहीं आनंद उपलब्ध हो जाता है। यानी शैव दर्शन में आनंद को एक अविभाजित अनुभूति का पर्याय माना गया है।

इस अनुभूति तक कैसे पहुंचा जाय ? यह साधक की वास्तविक समस्या है और कहा गया है कि श्रद्धा के माध्यम से ही इस विभाजन का अतिक्रमण किया जा सकता है। बुद्धि भेद पैदा करती है। तर्क, चेतना और मन को विभाजित करता है, इसलिए बुद्धि और तर्क अनेकता की तरफ ले जाता है। आनंद ऐक्य में है, समरसता में है, समग्रता में है।

ध्यान देने की जरूरत है कि आनंद सुख का पर्याय नहीं है, अगर हम सुख चाहते हैं तो दुख से बच नहीं सकते क्योंकि जहां सुख है उसी के दूसरे किनारे पर दुख है। आनन्द की उपलब्धि ही मोक्ष है, जीवन की अर्थवत्ता है, साधना की सार्थकता है। इस प्रकार एक मत के अनुसार आनंद वाद की प्रतिष्ठा कामायनी का मूल अभिप्रेत है।

कामायनी के रूपकत्व की एक अन्य व्याख्या करते हुए उसे मनुष्य के आत्मकेन्द्रित स्वप्नन और अन्ततः पलायनवाद की कथा कहा गया है। कामायनी का जो अंत है उसे मुक्तिबोध ने मध्यवर्गीय व्यक्ति के पलायनवाद से जोड़ा है। धरती पर त्राहि त्राहि मची है और श्रद्धा की मुस्कुराहट में मनु समरस आनंद के दर्शन कर रहे हैं। यह बिना पलायन के संभव नहीं है। मनु समस्या का सामना नहीं करते। बिना समस्याओं से जूझे हुए उन्हें एक विकल्प मिल जाता है और यह विकल्प बहुत रहस्यवादी है। वस्तुतः यह व्याख्या बिल्कुल सामाजिक आर्थिक संदर्भों में की गई है।

क्या कामायनी को रूपक कहा जाए ? क्योंकि रूपक में आदि से अंत तक सूत्रों का निर्वाह अनिवार्य है। क्या इसकी प्रत्यक्ष कथा और अप्रत्यक्ष कथा के बीच आद्यन्त संबंध है ? विद्वानों की धारणा है कि कामायनी का रूपक तत्व जगह जगह टूट गया है। दरअसल रूपक को जीवन की परिस्थितियां जगह–जगह पर क्षतिग्रस्त कर देती हैं। अगर कामायनी मनुष्य के विकास का मनोवैज्ञानिक इतिहास है तो क्या कामायनी की पूरी कथा मनोवैज्ञानिक समस्याओं और सत्यों का निर्वाह करती है ? ऐसा नहीं है। 'रहस्य सर्ग' में जाकर मनोविज्ञान का ढांचा टूट जाता है। हालांकि कामायनी के जो आरंभिक सात–आठ सर्ग हैं उन सर्गों का नामकरण मनोवैज्ञानिक विकारों पर किया गया है इसमें बहुत सघन निर्वाह है, चिन्ता, आशा, श्रद्धा, काम, वासना, लज्जा, ईर्ष्या।

लेकिन खासकर 'इड़ा सर्ग' की कथा मनोवैज्ञानिक कथा नहीं है। नयी सभ्यता और नयी व्यवस्था का निर्माण मनोवैज्ञानिक घटना नहीं हो सकती। वह एक सामाजिक और राजनीतिक घटना है। इसी तरह से दर्शन, रहस्य और आनन्द सर्ग में भी मनोविज्ञान की उपस्थिति क्षीण होती गई है। श्रद्धा के द्वारा मनु जिस एक्यानुभूति को उपलब्ध करते हैं उस अनुभूति को मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया से विश्लेषित नहीं किया जा सकता। उसका एक दार्शनिक निहितार्थ है । इसमें संदेह नहीं

है कि कामायनी की कथा में मनोविज्ञान एक बहुत महत्वपूर्ण घटक है लेकिन जहां तक रूपकत्व के निर्वाह का प्रश्न है वह कथा के अंत तक नहीं चलता। कामायनी का अंत मनोवैज्ञानिक अंत नहीं है एक दार्शनिक अंत है।

यही तर्क कोश यात्रा पर भी लागू है। यह कोशों की एकांतिक यात्रा न होकर मनोविज्ञान और सामाजिक परिस्थितियों के अनेक जटिल सूत्रों से भी जुड़ी हुई है। इसलिए अगर कामायनी के सभी पात्रों और घटनाओं को कोश यात्रा के संदर्भ में विश्लेषित किया जाये तो कामायनी के अर्थ की व्यापकता खंडित होती है। कामायनी में अपने समय, समाज, इतिहास के जो प्रश्न हैं वे प्रश्न उपेक्षित होते हैं।

दरअसल कथा संगठन के आधार पर भी कोशमय यात्रा का रूपकत्व कामायनी के संपूर्ण रचना विन्यास में उपस्थित नहीं है। इसलिए कोशीय यात्रा संदर्भ में भी कामायनी का रूपकत्व अखंडित नहीं है।

जहां तक आनंदवादी दर्शन का प्रश्न है प्राय: सभी विचारकों और आलोचकों ने यह आरोप लगाया है कि कामायनी का अंत आरोपित अंत है। कामायनी का पूर्वार्द्ध दर्शन से नहीं बल्कि मनोविज्ञान से संचालित है। अंत उन्होंने अपने प्रिय आनंदवाद के आधार पर किया है। इसलिए इस संदर्भ में कामायनी के रूपक होने का कोई प्रश्न ही नहीं है।

मुक्तिबोध की व्याख्या कामायनी को इतिहास और समाज व्यवस्था के संदर्भ में समझने की कोशिश है और मुक्तिबोध स्वयं इस व्याख्या में संतुलन नहीं बना सके हैं। इस व्याख्या में अनेक असंगतियां हैं।

इन सभी दृष्टियों से यह कहा जा सकता है कि कामायनी में रूपकत्व की स्थितियों से इंकार नहीं किया जा सकता, लेकिन यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि कामायनी में किसी भी कोण से रूपकत्व के ढांचे का अखण्ड निर्वाह नहीं है। इसलिए वह अपने विन्यास में आंशिक रूप से ही रूपक काव्य कहा जा सकता है।

प्रतीक बिन्दु पर चर्चा करते हुए सबसे पहली बात यह है कि कामायनी की प्रतीकात्मकता प्रत्यक्ष नहीं है। सामान्यत: कामायनी के पात्रों, घटनाओं और स्थितियों की व्याख्या दर्शन और मनोविज्ञान के निहितार्थ में की गई है। लेकिन इन पात्रों और घटनाओं का और परिस्थितियों का इतिहास और समाज व्यवस्था से क्या सम्बन्ध है, इसकी ठीक तस्वीर कामायनी की प्रतीक योजना से नहीं मिलती।

कामायनी की व्याख्या एक बहुत उलझे हुए दार्शनिक काव्य के रूप में की जाती रही है। इस परम्परा से निर्मित मानसिकता को कारण भी कामायनी के प्रतीक सीधे दिखाई नहीं पड़ते। इन प्रतीकों की अस्पष्टता का एक दूसरा कारण कामायनी की रहस्यमयता भी है। इसलिए कामायनी के पात्र और घटनाएं एक अमूर्त आध्यात्मिक लोक की घटनाएं प्रतीत होती हैं।

इसके साथ एक कारण यह है कि प्रसाद का समस्याओं के प्रति जो दृष्टिकोण है वह मूलतः भाववादी है। भाववाद शाश्वतता और सनातनता को स्वीकार करता है। इसलिए प्रसाद मनु को, श्रद्धा को, इड़ा को भी शाश्वत भावों के प्रतीक के रूप में ग्रहण करते हैं। प्रसाद जिस समय एक जागरूक रचनाशील व्यक्ति के रूप में जी रहे थे, प्रसाद के सामने सभी समस्याएं सामयिक थीं, लेकिन उन समस्याओं को उन्होंने शाश्वत समझा। उसके साथ साथ इन समस्याओं की सत्ता को उन्होंने सामाजिक व्यवस्था में नहीं बल्कि मानसिक जगत में खोजा। प्रसाद की समझ के अनुसार जीवन की सभी समस्याएं मनुष्य के मानसिक जगत में हैं और जीवन की विषमता का कारण बुद्धिवाद है। इस तरह से उन्हें दिखाई पड़ा कि सभ्यता के आरंभ में भी बुद्धिवाद मूल समस्या है, अब भी बुद्धिवाद मूल समस्या है। इसलिए वर्तमान की समस्या को उन्होंने अतीत से जोड़ दिया। इसलिए कामायनी की घटनाएं, स्थितियां और पात्र प्रत्यक्ष अर्थ या समसामयिक समस्याओं के प्रतिनिधि के रूप में कम दिखाई पड़े। वे शाश्वत सनातन समस्याओं के प्रतिनिधि के रूप में दिखाई पडे। अतः डा० नामवर सिंह ने यह निष्कर्ष निकाला कि कामायनी के रूपक प्राचीन हैं, भाव शाश्वत हैं और समस्याएं आधुनिक हैं। अपनी आधुनिक समस्याओं को शाश्वत रूप देकर प्रसाद ने उसकी आधुनिकता पर पर्दा डाल दिया है।

कोई भी समस्या शाश्वत नहीं होती। कोई समस्या सनातन भी नहीं होती। इतिहास समस्याओं की प्रकृति बदल देता है। एक तरह की प्रतीत होने वाली समस्याएं भी समाज और इतिहास के अलग–अलग ढांचों में अपनी प्रकृति के स्तर पर भिन्न होती हैं। लेकिन भाववादी रचनाकार या भाववादी व्यक्ति इस भिन्नता को स्वीकार नहीं करता। भाववाद इतिहास और वर्तमान में विभाजित जीवन के बीच समस्या की अन्तरसूत्रता को स्वीकार करता है। इसलिए समस्या चाहे मनु की हो या बिल्कुल आधुनिक मनुष्य की हो, दोनों एक है और उसका समाधान एक ही तरह से हो सकता है। इस दृष्टि के कारण समस्याओं को व्यवस्थाओं में नहीं बल्कि मानसिक जगत में देखने के कारण जो प्रतीकों की आधुनिकता है वह धूमिल पड़ गई है।

कामायनी की प्रतीकात्मकता अनेक बिन्दुओं से देखी जा सकती है। विशेषतौर पर घटनाएं, परिस्थितियां, पात्रों के स्तरों पर।

कामायनी की शुरूआत जल प्रलय से होती है। यह प्रलय एक पौराणिक घटना है। इस प्रलय के पूर्व की सभ्यता को प्रसाद ने देव सभ्यता कहा है। व्याख्या की गई है कि देव सभ्यता का ध्वंस एक प्रतीक है। अंग्रेजों के आगमन के परिणामस्वरूप हिन्दू राजाओं और मुगल नवाबों एवं बादशाहों का विध्वंस होता है। यह इतिहास के एक विशेष ढांचे का विध्वंस है जिसे प्रसाद देव सभ्यता कहते हैं। अतः प्रलय एक प्रकार से सामंती सभ्यता का ध्वंस है। उनका नाश इसलिए हुआ क्योंकि वे जड़ थे। समय और इतिहास के परिवर्तनों की आहट को सुनने में सक्षम नहीं थे। इसलिए जब सभ्यता इतिहास के परिवर्तन की आकांक्षा का सम्मान नहीं करती तो वह अपने अन्तर्विरोधों के कारण ध्वस्त हो जाती है। प्रसाद ने इसे प्रकृति का प्रकोप कहा है। आगे चलकर उन्होंने कहा है कि प्रकृति का प्रकोप अकारण नहीं है बल्कि भोगवादी सभ्यता की स्वाभाविक परिणति है। प्रसाद यहां शायद यह संकेत करना चाहते हैं कि मनुष्य की इच्छाओं तथा जीवन व्यवहार के साथ प्रकृति के अनुशासन और संतुलन का होना अनिवार्य है। भोगवाद की अतिशयता एक अप्राकृतिक स्थिति है। भोगवाद की अतिशयता आत्मविनाश में छलांग लगाने की एक जीवन पद्धति है।

प्रलय के बाद उषा का आगमन होता है। उषा भारतीय नवजागरण की ऐतिहासिक चेतना का प्रतीक है। जो जमी हुई बर्फ है वे प्राचीन रूढ़ियां हैं। इन जड़ताओं और रूढ़ियों को तोड़ कर सामाजिक चेतना की जो शक्तियां सक्रिय होती हैं उन्हें ही 'वनस्पतियों' की संज्ञा दी गई है। इसलिए नवजागरण की चेतना और सामाजिक जीवन में चिंतन और संघर्ष की नई शक्तियों का उदय आशा सर्ग में उषा के उदय को प्रतीकित करती हैं। इस पृष्ठभूमि में मनु का अवतरण होता है। मनु के कई रूप अलग–अलग मनःस्थितियों और परिस्थितियों में दिखाई देते हैं।

आशा सर्ग के बाद जब मनु का अवतरण कामायनी में होता है उस समय मनु का मन दो प्रकार की मनःस्थितियों से घिरा हुआ है (1) अतीत के प्रति एक गहन आकर्षण और (2) भविष्य के प्रति आशंका का भाव। मनु अतीत के ध्वंस से आहत हैं। यह अतीत बहुत मुग्धकारी है, स्वर्णिम है, इस अतीत के नष्ट हो जाने का गहन विषाद मनु के मन और चेतना पर छाया हुआ है। लेकिन चूंकि नवजागरण की प्रक्रिया है इसलिए नामवर सिंह ने कहा है कि इस स्तर पर मनु बीसवीं शताब्दी के आरंभिक दौर के शिक्षित नवयुवक का प्रतिनिधित्व करते हैं जिसके मन में भारत के स्वर्णिम अतीत के प्रति एक गहरा आकर्षण है और दूसरी तरफ भविष्य अनिर्दिष्ट है। इसलिए अनागत के प्रति एक आशंका और निराशा का भाव भी है।

इसी बीच में श्रद्धा से मुलाकात होती है। यह मिलन जीवन में एक रागपूर्ण आत्मविश्वास की सृष्टि करता है। लेकिन आगे चलकर इस संबंध में तनाव पैदा होता है। इस संबंध में तनाव और संघर्ष इसलिए पैदा होता है क्योंकि दो प्रकार की जीवनदृष्टियां आपस में टकरा जाती हैं। श्रद्धा उस जीवन दृष्टि का प्रतिनिधित्व करती है जिसमें संतोष है, अहिंसा है, दूसरों पर दया है और एक बहुत शांत और सिमटा हुआ जीवन है। मनु एक दूसरी प्रकार की जीवन दृष्टि का प्रतिनिधित्व करते हैं जिसमें कर्म की गति है, महत्वाकांक्षा है, जिसमें क्रियाशीलताओं के विस्तार की कामना है।

इसके बाद जो आगे की घटना है उसमें भी प्रतीक देखा जा सकता है। मनु श्रद्धा को छोड़ कर चले जाते हैं और मनु में एकाकीपन के भाव का उदय होता है। एक सरल, शांत जीवन की जड़ों से विस्थापित होकर, मनु जब बाहर निकलते हैं तो मनु में एक खास तरह का विषाद, अकेलापन पैदा होता है। सामाजिक और मनोवैज्ञानिक स्तर पर यह कहा जा सकता है कि गांव के सहज जीवन को छोड़कर जब पहली बार एक चेतना संपन्न युवक अनिश्चय और अपरिचय से भरे हुए एक अजनबी संसार में प्रवेश करता है तो दो प्रकार की मनःस्थितियां उत्पन्न होती हैं। उसके मन को अतीत आकर्षित करता है और दूसरी तरफ एकाकीपन का घोर अंधकार होता है। इसका सामना करने के लिए वह अभिशप्त है। 'सारस्वत प्रदेश' में पहुंचकर मनु श्रद्धा के साथ बिताए गए जीवन की याद करते हैं लेकिन उसके साथ साथ एक भविष्य भी है जो अंधकार से भरा हुआ है। नामवर जी ने कहा है कि यह सन् 1930 के बाद की मध्यवर्गीय मनःस्थिति है, जो मनु की सोच में आकार लेती है।

श्री उत्कर्ष क्लासेज (रजि.) उत्कर्ष IAS 1.265900.IAS/PCS.9858486005

कामायनी में देवासुर संग्राम का भी जिक्र किया गया है। देवासुर संग्राम भी एक प्रतीक है। यहां आत्मवादी और बुद्धिवादी विचारधाराओं का संघर्ष है। देवता आत्मवादी हैं और राक्षस असुर बुद्धिवादी हैं। देवता भोगवादी हैं और असुर दुःखवादी हैं। भोगवाद और दुखवाद तथा आत्मवाद और बुद्धिवाद के बीच के संग्राम का प्रतीक है देवासुर संग्राम। इसी देवासुर संग्राम की रणस्थली में मनु सभ्यता का निर्माण करते हैं। यह इतिहास के विकास का एक चरण है। जहां दो पुरानी सभ्यताएं और दृष्टियां टकराई थीं।

इड़ा के साथ मिलकर मनु एक आधुनिक और प्रजातांत्रिक सभ्यता का निर्माण करते है। यहीं पर मनु के मन में एक तानाशाही या अधिनायकवादी भावना का उदय होता है जिसमें वे स्वयं को सर्वापरि और सर्वसत्तावादी समझते हैं। प्रसाद संभवतः इस मानसिकता के पीछे के कारणों की ओर संकेत करना चाहते हैं। प्रजातंत्र से ही फासिज्म का उदय होता है, अगर ऐसा नहीं होता

तो यह कौन कह सकता था कि फ्रांस की राज्य क्रांति नेपोलियन को जन्म देगी। प्रत्येक प्रजातंत्र अपनी कोख में अधिनायकवाद के भ्रूण का विकास करता है। इतिहास इन तथ्यों से भरा हुआ है। इसलिए यह इतिहास के विकास का एक विचित्र विरोधाभास है। रूस की क्रांति स्टालीन को जन्म देती है, फ्रांस की राज्य क्रांति नेपोलियन को और भारतीय प्रजातंत्र वंशवाद को। मनु के इस अधिनायकवाद को जनता की जागरूकता और संघर्ष के कारण परास्त होना पड़ता है। पराजित होकर मनु पलायन करते हैं।

यहां पर मनु का पलायन भी एक प्रतीक है, लेकिन मनु का यह पलायन पराजित मध्यवर्ग के बुद्धि विरोध और अंधश्रद्धा से जुड़ा हुआ है। नामवर जी ने कहा है कि मध्यवर्ग में एक खास तरह की पलायनवादी प्रवृत्ति दिखाई देती है। इतिहास के एक दौर में वह वैज्ञानिक और परिवर्तनकारी चेतना का सूत्रधार होता है और इतिहास के दूसरे दौर में वह प्रतिगामी हो जाता है। इतिहास का यह विचित्र विरोधाभास है कि उसके एक कालखंड में या उसकी एक सामाजिक व्यवस्था में जो मध्यवर्ग वैज्ञानिक चेतना और परिवर्तनकारी शक्तियों का सूत्रधार होता है, इतिहास के एक दूसरे चरण में वह परिवर्तन और मूल्यों के खलनायक रूप में भूमिका निभाता है। यह इतिहास का सत्य है, अगर ध्यान से स्वाधीनता आन्दोलन का इतिहास देखें तो स्वाधीनता आन्दोलन का जो पूरा राष्ट्रवाद है, राष्ट्रीय चेतना है उसका सूत्रधार मध्यवर्ग है और स्वाधीनता के बाद राष्ट्रीय चेतना और सांस्कृतिक अस्मिता का जो पराभव है उसका सूत्रधार भी मध्य वर्ग है। ये कुछ घटनाएं और स्थितियां हैं जो कामायनी की कथा के भीतर समाज और इतिहास की जो जीवित वास्तविकताएं हैं। उन जीवित वास्तविकताओं को प्रतीकित करती हैं।

पात्रों के स्तर पर भी यह प्रतीकात्मकता दिखाई देती है। सामान्यतः सामाजिक संदर्भ में मनु को मध्यवर्गीय व्यक्ति के रूप में देखा गया है। मध्यवर्गीय व्यक्ति की महत्वाकांक्षा, एकाकीपन, विषाद, संघर्ष, असंतोष और साहसिकता, ज्ञान की पिपासा और प्रेम भावना ये मध्यवर्गीय युवक की चारित्रिक विशेषताओं को रूपायित करती हैं। मनु का चरित्र मध्यवर्गीय युवक की मानसिकता के सकारात्मक और नकारात्मक दोनों पक्षों का प्रतिनिधित्व करता है। एक तरफ उसमें असंतोष, प्रगति की आकांक्षा, कर्म की प्रवृत्ति और प्रेम भावना है तो दूसरी तरफ अहंकार भाव, एकाधिकार की भावना, विषाद, एकाकीपन और पलायन है। मनु मध्यवर्ग की शक्तियों और सीमाओं का प्रतिनिधि पात्र है।

श्रद्धा भाववाद, हृदयवाद, आदर्शवाद का प्रतिनिधित्व करती है। सवाल उठता है कि क्या भाववाद या आदर्शवाद या आस्थावाद अनिवार्यतः विकास के खिलाफ में है ? प्रगतिवादी आलोचकों

ने और प्रगतिवादी आलोचकों से भिन्न आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने यह आरोप लगाया है कि प्रसाद ने अनावश्यक रूप से श्रद्धा का पक्ष लिया है। श्रद्धा व्यक्तित्व और समाज के विकास में अवरोधक तत्व है। यह वस्तु जगत की समझ को धुंधलाती है। विकास और औचित्य पर आधारित सभ्यता का निर्माण बुद्धिवाद से किया जा सकता है, यह शुक्ल जी की स्थापना है। उनकी यह भी स्थापना है कि श्रद्धा को महत्व देकर प्रसाद ने कामायनी की अंतर्वस्तु को बहुत कमजोर कर दिया है।

यह बहुत विवादास्पद है कि क्या श्रद्धा अनिवार्यतः विकास विरोधी धारणा या मनोवृत्ति है? विज्ञान की अधिकतम उपलब्धियों को हासिल कर लेने के बाद पश्चिम वक्तव्य दे रहा था कि बुद्धि का रास्ता विकलांगता की तरफ से जाता है। सन् 1922 में स्पैंगलर की किताब आई थी 'द डिकलाइन आफ् द वैस्ट' और उसमें स्पैंगलर ने वैज्ञानिक सभ्यता की सभी उपलब्धियों को नकारते हुए यह कहा था कि इस सभ्यता ने जिंदगी को जीने लायक नहीं रहने दिया है। सभी प्रकार की रुग्णताओं, संकीर्णताओं और हिंसाओं को जन्म दिया है इस वैज्ञानिक और यांत्रिक सभ्यता ने। इस बिंदु पर आज हम यह कह सकते हैं कि प्रसाद ने श्रद्धा को महत्व देकर तथाकथित वैज्ञानिक सभ्यता की अंधता और उसकी प्रकृति और जीवन विरोधी भूमिका की पहचान की है। इसलिए अन्ततः अगर यह धरती और जीवन जीने लायक बचा रहेगा तो उसका केन्द्र बुद्धिवाद नहीं हो सकता। मनुष्य को किसी न किसी स्तर पर आस्था और विश्वास के केन्द्र पर लौटना पड़ेगा। इस आस्था और विश्वास के बिना जीवन एक छद्म और विसंगति का पर्याय बना रहेगा।

इसलिए प्रसाद एक गंभीर सांस्कृतिक विमर्श में उतरते हैं श्रद्धा को लेकर। आधुनिक सभ्यता की कम से कम मनुष्य विरोधी गतिविधियां जो दिखाई पड़ती रही हैं श्रद्धा अंततः उनका समाधान है। इसलिए श्रद्धा के नाम पर इस कृति का नामकरण भी 'कामायनी' किया गया है। श्रद्धा प्रसाद के जीवनदर्शन का केन्द्र है।

ज्यादा विवाद हिन्दी आलोचना में इस बात को लेकर है कि प्रसाद ने इड़ा के साथ न्याय किया है या नहीं किया है ? आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और प्रगतिवादियों के अनुसार प्रसाद ने इड़ा के साथ अन्याय किया है क्योंकि आधुनिक और प्रगतिशील समय में बुद्धि को एक नकारात्मक सत्ता के रूप में नहीं देखा जा सकता। लेकिन प्रसाद की अपनी एक समझ है, उनका एक अपना दृष्टिकोण है, अपने तरह के जीवन मूल्य हैं जिसमें वे बुद्धि की अतिरेकता को नकारात्मक महसूस करते हैं। इड़ा बुद्धि की अतिशता का प्रतीक है।

इस तरह से यह कहा जा सकता है कि कामायनी छायावाद की नहीं बल्कि आधुनिक हिन्दी कविता की एक ऐसी महत्वपूर्ण उपलब्धि है जो अपने प्रतीकों के माध्यम से आधुनिक सभ्यता

के संकट और इतिहास के सबसे जरूरी सांस्कृतिक विमर्श को एक रचनात्मक आयाम देती है। इस दृष्टि से कामायनी की प्रतीक योजना रचना, जीवन और इतिहास की व्याख्या के महत्वपूर्ण माध्यम के रूप में सार्थक प्रतीत होती है।

कामायनी का महाकाव्य :

छायावाद में महाकाव्य की परिकल्पना महाकाव्य की परम्परागत अवधारणा से भिन्न है।

महाकाव्य शब्द मूलतः महत् से बना हुआ शब्द है। महत् यानी महान। महान का निहितार्थ विस्तार और व्यापकता से जुड़ा हुआ है। स्पष्ट है कि महाकाव्य का अर्थ एक ऐसी रचना है कि जो जीवन के समूचे विस्तार और व्यापकता का साक्षात्कार करती है और उस विस्तार और व्यापकता के घटाटोप में मूल्य केन्द्रिकता की पहचान करती है। इस विस्तार में जीवन के अन्तर्विरोध भी समाहित हैं। इसलिए महाकाव्य एक ही साथ व्यक्ति और समाज, क्षण और इतिहास, जन्म और मृत्यु आदि अनेक अन्तर्विरोधों से निर्मित होता है। इसके साथ-साथ महान काव्य या महाकाव्य जीवन के वैविध्य, अन्तर्विरोध और विस्तार के बावजूद किसी रचनात्मक मूल्य की ओर इशारा भी करता है। इसलिए महाकाव्य मूलतः जीवन से साक्षात्कार है और मूल्य की खोज भी है।

इस दृष्टि से अगर भारतीय महाकाव्य की परम्परा देखें तो रामायण और महाभारत आधार महाकाव्य के रूप में स्वीकृत हैं जिनमें जीवन के सभी रूप, सभी परिस्थितियां और जीवन के समग्र बोध के साथ-साथ मूल्य संधान भी है। इन्हीं ग्रंथों के आधार पर बाद में चलकर महाकाव्य के शास्त्रीय लक्षण गिनाए गए।

शास्त्र के अनुसार महाकाव्य की चार पांच कसौटियां बतायी गयीं। एक, महाकाव्य का कथानक प्रख्यात होता है, किसी बहुत जानी पहचानी कथा पर ही महाकाव्य लिखा जा सकता है। दूसरा, महाकाव्य का नायक कुलीन (उच्च वर्ण का शील और शक्ति से सम्पन्न) होता है। सामान्यतः महाकाव्य के नायक के लिए पात्र की कुलीनता, राजवंश से उसकी संबद्धता और उसके उदात्त कार्यकृत अनिवार्य माने गये हैं। फिर महाकाव्य में सामाजिक जीवन की परिस्थितियों, रीति-रिवाजों व सांस्कृतिक मूल्यों का विशुद्धिकरण होता है। इसके साथ साथ प्रकृति के सभी रूप महाकाव्य में उपलब्ध होते हैं। जंगल, उद्यान, नदी, समुद्र, तूफान और मलयानिल, अमावस्या और पूर्णिमा, जेठ की गर्मी और माघ की शीतलताएं सब कुछ इसके भीतर समाहित होते हैं। और अन्ततः महाकाव्य किसी न किसी लक्ष्यदेश्य को प्रस्तावित करता है, जो सामान्यतः महान होता है।

लेकिन यह कहा जा सकता है कि महाकाव्य की अन्तर्वस्तु युग चेतना और सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन के साथ साथ बदलती रहती है। इसके बावजूद एक बात जो महाकाव्य में अपरिवर्तनशील है वह यह कि महाकाव्य अपने समय के सबसे महत्वपूर्ण सवालों से मुठभेड़ करता है। इसलिए महाकाव्य की सार्वभौमिक अवधारणा यह है कि महाकाव्य जातीय मूल्यों, संकटों का सामना करते हुए एक समाधान की खोज करता है। इसलिए समय का संकट और उस संकट के समाधान के लिए एक स्वप्न – ये दो धूरियां हैं जिन पर प्रत्येक युग का महाकाव्य निर्मित होता है। रामचरितमानस में समय का यह संकट है कलियुग। यह कलियुग तुलसीदास का समय है और इसका समाधान है रामराज्य। इस प्रकार संकट और समाधान इन दो दिशाओं से या इन संदर्भों और प्रसंगों से महाकाव्य की विषय वस्तु निर्मित होती है। ऊपरी ढांचे में परिवर्तन होता रहता है। इस संदर्भ में क्या कामायनी को महाकाव्य कहा जा सकता है ?

परम्परागत तरीके से कामायनी को महाकाव्य कहने में बहुत सारी बाधाएं हैं। दूसरे शब्दों में महाकाव्य की जो शास्त्रीय अवधारणा है उसके अनुसार कामायनी को कहीं से भी महाकाव्य नहीं कहा जा सकता। उसके कुछ कारण हैं। एक तो कामायनी में जीवन का महाकाव्योचित विस्तार और व्यापकता दिखाई नहीं देती है। इसकी कथा मात्र तीन पात्रों की है (उसमें भी कथा मूलतः मनु की है)। फिर मनु का नायकत्व महाकाव्योचित गरिमा के अनुकूल नहीं है। शास्त्र कहता है कि महाकाव्य में नायक प्रधान होता है, नायिका प्रधान नहीं होती। कामायनी में नायिका प्रधान है। इसके अतिरिक्त कामायनी का रूपबंध महाकाव्य की गरिमा के अनुरूप नहीं है। वस्तुतः कामायनी एक काव्य है जिसमें कुछ समस्याओं को रूपक के माध्यम से उठाया गया है। इसलिए न तो इसमें महाकाव्योचित औदात्य व विस्तार है न ही अन्तर्विरोध। और सबसे आपत्तिजनक हिस्सा है कि कामायनी का अंत सामाजिक फलक पर नहीं होता। अगर कामायनी का अन्त उस रणक्षेत्र में हो जाता जहां मनु घायल और मुर्च्छित पड़े हैं तब भी एक उमीद बन सकती थी। लेकिन अन्त नितांत वैयक्तिक संदर्भ में होता है और इस अंत को जीवन से नहीं बल्कि दर्शन से निर्मित किया गया है।

लेकिन फिर भी कामायनी आधुनिक हिन्दी कविता की एक महाकाव्यात्मक उपलब्धि है। भले ही महाकाव्य की परम्परागत धारणाओं, शर्तों और परिभाषाओं के अनुसार यह महाकाव्य प्रतीत नहीं होती, लेकिन फिर भी यह खड़ी बोली हिन्दी कविता का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण महाकाव्य है। वस्तुतः आधुनिक जीवन परिस्थितियों में महाकाव्य की पहचान में परिवर्तन अवश्यंभावी था। इस परिवर्तन का प्रभाव छायावाद और कामायनी पर देखा जा सकता है। जैसे कामायनी कथात्मक महाकाव्य

नहीं है और उसका मूल कारण यह है कि आधुनिक युग में कथा के लिए नई विधा आ चुकी है – उपन्यास। इसलिए अब कथा के आधार पर महाकाव्य लिखना आवश्यक नहीं रह गया है। इसलिए कामायनी की महाकाव्यात्मकता के केन्द्र दूसरे हैं।

महाकाव्य सम्पूर्ण जाति की चिंताओं और स्वप्न का रचनात्मक प्रतिफलन होता है। उसमें मिथक, परम्परा, यथार्थ और स्वप्न का अंतर्लयन हो जाता है। वर्तमान के बिन्दु पर शाश्वतता, समग्रता और बहुआयामिता का संगठन महाकाव्य का मूल आधार है। इसलिए वह अपने समय में निर्मित होकर भी सार्वकालिक होता है। जातीय चेतना से संबद्ध होते हुए भी वह विश्व मानव के सपनों और प्राप्तियों से संबद्ध होता है। इसलिए महाकाव्य के जो सनातन लक्षण निर्धारित किए जा सकते हैं उनमें से प्रमुख हैं – वस्तु योजना, (जिसमें यह महत्त्वपूर्ण नहीं है कि कथा कितनी बड़ी और छोटी है बल्कि उसका कन्टेंट क्या है) पात्र योजना, समय के मूलभूत संकटों की पहचान और समाधान और उसकी शिल्प योजना।

इस संदर्भ में सबसे पहले कामायनी की **वस्तु योजना** को देखा जा सकता है। क्या कामायनी की वस्तु योजना महाकाव्य की गरिमा के अनुरूप है ? कामायनी की अंतर्वस्तु क्या है ? रामस्वरूप चतुर्वेदी के अनुसार देव और असुर संस्कृतियों की टकराहट के परिणामस्वरूप मानव संस्कृति के रूप में एक नयी संस्कृति के उदय की व्याख्या कामायनी की अन्तर्वस्तु है। यानी कामायनी मानवीय संस्कृति की विशिष्टताओं का महाकाव्य है। इस संस्कृति की विशिष्टताओं की पहचान ही कामायनी का मूल प्रतिपाद्य है।

देव और असुर संस्कृति से मानव संस्कृति की भिन्नता इस अर्थ में है कि मानव संस्कृति में प्रेम और सृजनात्मकता की संभावनाएं विद्यमान हैं। मनुष्य मरणशील है लेकिन वह इस मरणशीलता का अतिक्रमण अपनी सृजनात्मक शक्तियों के माध्यम से कर जाता है। प्रेम, सौन्दर्य और सृजनात्मकता ये मानवीय संस्कृति की विशिष्टताएं हैं जो उसे पूर्व संस्कृतियों से अलग करती हैं। इसलिए कामायनी एक नयी संस्कृति के उदय का महा–आख्यान है। इसलिए देव और असुर संस्कृतियों की तुलना में मानवीय संस्कृति की सृजनात्मकता और उसकी विकसनशीलता का रेखांकन कामायनी की वस्तु योजना का एक लक्ष्य है।

इसकी दूसरी व्याख्या भी संभव है। कामायनी की वस्तुयोजना दो जीवन संस्कृतियों की टकराहट से निर्मित हुई है। इस प्रकार यह दो प्रकार की जीवन वृत्तियों, दो प्रकार की संस्कृतियों, दो प्रकार की मूल्य चेतना की टकराहट की कथा है जिसमें रचनाकार अपना मूल्य निर्णय लेता है। इन टकराहटों का संदर्भ ऐतिहासिक और समसामयिक है। इतिहास का एक विशेष दौर है

साम्राज्यवाद का दौर और समसामयिक इस अर्थ में है कि वह आज का भी प्रश्न है। पश्चिमी संस्कृति और भारतीय संस्कृति जीवन मूल्यों की टकराहट, भाववाद बनाम वस्तुवाद, आस्था बनाम बुद्धि, विश्वास बनाम तर्क, यंत्र सभ्यता बनाम प्राकृतिक संतुलन या प्राकृतिक सामंजस्य, दो युग्म हैं जो आपस में टकरा रहे हैं। कामायनी की वस्तु योजना इन्हीं दो विरोधी दृष्टियों से विकसित होती है और प्रसाद इस टकराहट में भाववाद के प्रति अपनी पक्षधरता को व्यक्त करते हैं।

एक तीसरी बात की भी चर्चा कामायनी की वस्तु योजना के संदर्भ में की गई है कि यह प्रकृति से संस्कृति में संक्रमित होने की यात्रा का काव्य है। मनु प्राकृत अवस्था में है, इसलिए चिंताएं हैं, आशा है, काम है, वासना है, ईर्ष्या है। मन का संस्कृतिकरण श्रद्धा और विश्वासों के आधार पर होता है। बुद्धि और विकास की बाहरी अवधारणाएं मन को सांस्कृतिक नहीं बना पातीं।

इस प्रकार कामायनी की वस्तु योजना के तीन आधार हुए। एक, देव और असुर संस्कृति से भिन्न एक मानवीय संस्कृति के आविर्भाव का आख्यान। दूसरा, वस्तुवाद और भाववाद की टकराहट और उसमें भाववाद की प्रतिष्ठा। तीसरा, मन का रूपांतरण। इसलिए कामायनी की वस्तु योजना घटनात्मक नहीं है।

कामायनी की वस्तु योजना की प्रकृति आन्तरिक है। इसलिए कहा जा सकता है कि कामायनी की वस्तु योजना एक महाकाव्य की अपेक्षाओं के पूरी तरह अनुरूप है। वह जीवन के किसी खण्ड समस्या को अपनी वस्तु योजना का आधार नहीं बनाती है। वस्तु योजना के धरातल पर कामायनी की व्याख्या हिन्दी कविता की परम्परा में किसी भी श्रेष्ठ महाकाव्य की तुलना में कम नहीं है।

महाकाव्यात्मकता का दूसरा आधार है – पात्र योजना। प्रश्न है कि क्या कामायनी की पात्र योजना महाकाव्योचित है ?

कामायनी की पात्र योजना की अद्भुत विशेषता यह है कि उसके तीनों पात्र मिथकीय हैं, वैयक्तिक हैं और वर्गीय भी हैं। पात्रों के व्यक्तित्व में अर्थ विस्तार की आश्चर्यजनक क्षमता दिखाई देती है। जहां तक प्रख्यातता का प्रश्न है तीनों पात्र वैदिक और पौराणिक पात्र हैं। गौण पात्र हैं आकुली, किलात और कुमार। मनु मानव सभ्यता के प्रणेता हैं इसलिए मनु के चरित्र में मानवीय सीमाओं और शक्ति का आरोह अवरोह दिखाई देता है।

इसलिए मनु क्षुद्र पात्र हैं या महान पात्र हैं इसका निर्णय आसान नहीं है। एक तो मनु मनुष्य के प्रतिनिधि हैं और इस रूप में उनका पूरा चरित्र विकसनशील है, जटिल है और भविष्यवाणियों की क्षमता से बाहर है।

इसके साथ साथ मनु की एक वर्गीय पहचान भी है। मुक्तिबोध ने यह संकेत दिया था कि मनु मध्य वर्गीय चरित्र के प्रतिनिधि हैं और मध्य वर्गीय व्यक्ति या चरित्र की जो सीमाएं और शक्तियां हैं उन दोनों से वे सम्पन्न दिखाई देते हैं। नामवर सिंह ने इस बात का जिक्र किया है कि मनु के बहुत सारे सकारात्मक पक्ष हैं जिसमें अतृप्ति है, असंतोष है, संघर्ष है, कर्म है, नयी दिशाओं के संधान की कोशिशें हैं, लेकिन इसके साथ साथ वहां आत्म–केन्द्रिकता भी है। विषाद एवं एकाकीपन भी उसी व्यक्तित्व का एक हिस्सा हैं। इसलिए मनु मध्यवर्गीय व्यक्ति की सीमाओं और सम्भावनाओं के प्रतीक पात्र के रूप मे देखे जा सकते हैं। यानी मनु की पात्रता की प्रकृति यहां पर वर्गीय है।

फिर मनु मन के भी प्रतीक हैं। इस प्रकार एक से अनेक स्तरों पर मनु की पात्रता फैली हुई दिखाई देती है। इसलिए मनु का चरित्र एक व्यक्ति का निजी चरित्र नहीं है, बल्कि वह इतिहास मनोविज्ञान और दर्शन की तर्कदार अवधारणाओं से निर्मित हुआ है। अर्थ संभावना का यह वैविध्य ही मनु की पात्रता को महाकाव्योचित आयाम देता है। हालांकि वह परम्परागत अर्थों में धीरोदात्त नायक नहीं है।

दूसरी पात्र है श्रद्धा। श्रद्धा की पात्रता कामायनी में इकहरी है। वह आद्यंत भारतीय नारी की समर्पणशीलता, त्याग और सेवा भाव के प्रतिनिधि के रूप में दिखाई देती है। यानी कथा के धरातल पर कामायनी में श्रद्धा एक परम्परागत भारतीय नारी का प्रत्यक्ष प्रतिनिधित्व करती है। इसलिए उसकी प्रकृति बहुत हद तक आदर्शात्मक है। सहज और स्वाभाविक राग, द्वेष, क्षोभ उसके व्यक्तित्व में दिखाई नहीं देते। इसलिए ममता, समर्पण और त्याग उसके व्यक्तित्व के बुनियादी गुण हैं।

हम कामायनी की कथा में देख सकते हैं कि जब मनु उसे छोड़कर चले जाते हैं तो मनु के प्रति उसके मन में कोई कटुता नहीं है। वह स्वप्न देखती है कि युद्ध हो गया और मनु मुर्च्छित पड़े हैं तो रण क्षेत्र में जाकर वह मनु को पहचानती है और फिर उसे साथ ले जाती है। इसलिए अगर ऐतिहासिक या सामाजिक दृष्टि से देखें तो श्रद्धा एक मध्यकालीन नारी है जो पुरुष के प्रति सम्पर्पण भाव को ही जीवन का चरम मूल्य मानती है। यह कामयानी की एक बहुत चमकदार सीमा है जो हमारा ध्यान आकृष्ट करती है। जैसे पूरे भारतीय नव जागरण का जो विमर्श और बहस है शायद

कामायनी की श्रद्धा को छू तक नहीं पाया है। इसलिए श्रद्धा का पात्रत्व कामायनी की समाज दृष्टि और प्रसाद का नारी के प्रति दृष्टिकोण के संदर्भ में एक बहुत गंभीर प्रश्नचिह्न है।

इसके साथ साथ आचार्य शुक्ल ने भी और स्वयं प्रसाद ने भी स्वीकार किया कि श्रद्धा रागात्मिका वृत्ति है। वह जीवन के प्रति रागात्मक दृष्टि से निर्मित हुई है। इसलिए सहृदयता, भावात्मकता और राग चेतना उसके व्यक्तित्व के मूल आधार हैं।

एक बात पर ध्यान देना चाहिए कि जहां तक श्रद्धा के चरित्र की सामाजिकता है वह बहुत विवादास्पद है। लेकिन जहां तक श्रद्धा की मनोवैज्ञानिक प्रतीकात्मकता का प्रश्न है वहां पर सामान्यतः भाव और राग का प्रतिनिधित्व करती है। बुद्धिवाद और वस्तुवाद के द्वारा भटकते हुए मन और जीवन को एक सार्थक केन्द्र पर ले जाने का नाम है श्रद्धा। इसलिए कामायनी में श्रद्धा के चरित्र के दो आयाम हैं। एक धरातल पर वह प्रसाद की सामाजिक चेतना या नारी विषयक उनके दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करती है और इस स्तर पर वह पुरातन है मध्यकालीन है। दूसरे स्तर वह मनोविज्ञान और दर्शन का भी प्रतिनिधित्व करती है और इस रूप में वह चेतना को पूर्णत्व प्रदान करने वाली ऊर्जा है। वह जीवन को कर्म क्षेत्र की ओर प्रेरित करती है। इसलिए अगर श्रद्धा न हो, आस्था न हो तो जीवन गतिशील नहीं हो सकता। इस तरह से श्रद्धा कामायनी की नायिका है जो मनु के जीवन की शुरूआत का कारण बनती है और पूर्णत्व तक भी। इस संदर्भ में कामायनी की नायिका के रूप में उसकी पात्रता, उसकी योग्यता असंदिग्ध है।

इड़ा भी दो रूपों में चित्रित है। दर्शन और मनोविज्ञान के स्तर पर वह तर्क बुद्धि और व्यवसायिका बुद्धि है। इसलिए वह भी मनु को कर्म की ओर प्रेरित करती है। लेकिन इड़ा द्वारा प्रेरित कर्म की दिशाएं बाहरी हैं। कर्म की यह यात्रा व्यक्ति को उसके आन्तरिक सूत्रों से विच्छिन्न कर देती है। इस संदर्भ में इड़ा पश्चिम की यांत्रिक चेतना के प्रतीक के रूप में भी दिखाई देती है। लेकिन जहां तक इड़ा के सामाजिक संदर्भ का प्रश्न है, इड़ा आधुनिक नारी के रूप में कामायनी में दिखाई देती है। वह पुरुष की अनियंत्रित इच्छा को अस्वीकार करने का साहस रखती है। वह अपनी देह और अपने मन की सुरक्षा के अधिकार से अवगत है। मनु और इड़ा की टकराहट एक सामंती पुरुष और आधुनिक चेतना से संपन्न नारी के बीच की टकराहट है। इसलिए इड़ा कामायनी में नारी के आधुनिक भाव बोध और आधुनिक चारित्र्य की प्रतिनिधि कही जा सकती है।

इस तरह से तीनों पात्र अर्थ के बहुस्तरीय आयामों से सम्पन्न हैं और महाकाव्य की अपेक्षाओं को पूरा करते हैं। हालांकि इन पात्रों के जीवन के विस्तृत प्रसंगों को कामायनी में चित्रित नहीं किया गया है, लेकिन इसके बावजूद वे अर्थ के स्तर पर एक विस्तृत व्यंजना देने में सक्षम है।

श्री उत्कर्ष क्लासेज (रजि.) उत्कर्ष IAS Ph.: 2659400 IAS/PCS 9868448686

समय के मूलभूत संकटों का चित्रण और उनका समाधान, यह महाकाव्य का तीसरा पक्ष है। कामायनी में समय के मूलभूत संकटों के भी दो रूप दिखाई देते हैं। एक तो संकट की प्रकृति वैश्विक है यह मूल संकट कामायनी के अनुसार यह है –

"ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न है इच्छा क्यों पूरी हो मन की,
एक दूसरे से न मिल सकें यह विडम्बना है जीवन की।"

कामायनी अपने समय की केन्द्रीय विडम्बना की पहचान करती है और यह विडंम्बना एक देशकाल से बंधी हुई नहीं है। यह सार्वभौमिक विडम्बना है। ज्ञान, इच्छा और क्रिया की संबंधहीनता, यह मूल संकट है। इस स्तर पर हम देखते हैं कि जहां तक समय के संकट की पहचान का प्रश्न है 1936 में यह कृति प्रकाशित है और अपनी शताब्दी और आने वाली शताब्दी के संकट की गूंज इसमें सुनाई पड़ती है।

कामायनी का मूल संकट वैश्विक स्तर पर तो इच्छा, क्रिया और ज्ञान की भिन्नता है। लेकिन सामाजिक और ऐतिहासिक स्तर पर जिस समय में प्रसाद रह रहे हैं वहां कामायनी की वास्तविक समस्या क्या है ? क्या कामायनी के मूल संकट की पहचान में स्वाधीनता आन्दोलन की कोई गूंज या स्वाधीनता आंदोलन की कोई चेतना दिखाई पड़ती है ?

19वीं और 20वीं शताब्दी में स्वाधीनता से पूर्व भारतीय मनीषा की वास्तविक चिंता भारतीयता की नयी व्याख्या है। कामायनी के संकट को 'भारतीयता की खोज' से जोड़ा जा सकता है। क्या भारतीयता को परिभाषित करने की जो ऐतिहासिक चुनौती है कामायनी उसका सामना करती है ? कामायनी में यह चुनौती घटनाओं के स्तर पर तो नहीं लेकिन बहुत सूक्ष्म स्तर पर दिखाई देती है। एक घटना के माध्यम से इस प्रयास को देखा जा सकता है।

श्रद्धा इड़ा के पास कुमार को छोड़कर और मनु को लेकर कैलाश आरोहण पर चली जाती है। यह कुमार नया भारतीय मनुष्य है। जिसमें श्रद्धा के संस्कार हैं और विचार जाहिर है कि वे इड़ा के है। भारतीयता की नयी परिकल्पना में अध्यात्म और भौतिकता के संतुलन की खोज बहुत महत्वपूर्ण है। सिर्फ आध्यात्मिकता या सिर्फ भौतिकता इन दोनों अतिवादों को छोड़कर एक संतुलन के निर्माण की कोशिश कामायनी करती है। क्योंकि सिर्फ आध्यात्मिकता ने हिन्दुस्तान को कैसा बनाया, इसका अनुभव 19वीं और 20वीं शताब्दी के चिंतकों के सामने था। ज्ञान से भरी हुई लेकिन एक दरिद्र और दीनहीन जाति। इसलिए नये मनीषियों ने महसूस किया कि सिर्फ औपनिषदिक और दार्शनिक ज्ञान पर्याप्त नहीं है बल्कि सामाजिक समानता भी उत्पन्न होनी चाहिए। आर्थिक उन्नति भी होनी चाहिए। राजाराम मोहन राय से लेकर गांधी तक और कामायनी में भी इस संतुलन की

खोज है। उस घटना से संकेत मिलता है कि सिर्फ आंतरिकता और सिर्फ बाह्यता नहीं बल्कि दोनों की समरसता से कुमार का जीवन निर्मित होगा। इसलिए कामायनी भारतीय स्वाधीनता आंदोलन की उस खोज का एक हिस्सा है जिसे हम भारतीयता या भारतीय जीवन मूल्य कह सकते हैं।

इसके साथ साथ एक और सवाल इस बिन्दु से जुड़ा हुआ है कि इस अमूर्त सैद्धांतिक स्थापना को जीवन में कैसे लागू किया जायेगा ? इसका कोई प्रारूप कामायनी में उपलब्ध नहीं है। इच्छा, क्रिया और ज्ञान के बंटवारे को क्या सिर्फ श्रद्धा के माध्यम से दूर किया जा सकता है?

कहा जा सकता है कि मन और समाज के स्तर पर जो कोलाहल है, उस कोलाहल को भाववाद से शमित किया जा सकता है, दूसरा कोई समाधान नहीं है। इस तरह से कामायनी अपने समय के संकटों का सामना करती है। यह कामायानी के फलक को एक महाकाव्यात्मक आयाम देता है।

कामायनी में दर्शन और काव्य का समन्वय

इस प्रश्न पर विचार करते हुए पहला सवाल सामने उपस्थित होता है कि क्या कविता एक दार्शनिक सत्य तक पहुँचने का माध्यम है अथवा वह भाव सत्य की उपलब्धता है ? प्रसाद ने कविता की परिभाषा देते हुए उसकी दार्शनिक प्रकृति की ओर इशारा किया था। उन्होंने कविता को 'आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति की अभिव्यक्ति' कहा था। इसलिए कम से कम प्रसाद की काव्य दृष्टि में दर्शन कविता का अंगभूत लक्षण है। कामायनी का वास्तविक लक्ष्य भी इसलिए भाव सत्य के स्थान पर एक दार्शनिक निष्कर्ष की पुष्टि है। इसलिए कामायनी की रचना प्रेरणा की पहचान करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा था कि "इसमें (रचना में) उन्होंने अपने प्रिय आनन्दवाद की प्रतिष्ठा दार्शनिकता के ऊपरी आभास के साथ कल्पना की मधुमति भूमिका बनाकर की है।" यानी कामायनी का लक्ष्य आनंदवाद की प्रतिष्ठा है। उसका माध्यम है दर्शन। इस माध्यम के साथ साथ उन्होंने कल्पना की मधुमति भूमिका का इस्तेमाल किया है। यानी इस कृति का सम्पूर्ण विन्यास दर्शन और कल्पना की परस्परता से हुआ है। इसलिए कामायनी में काव्य एवं दर्शन की संयुक्त उपस्थितियों पर विचार करने के पूर्व कामायनी की योजना पर संक्षिप्त चर्चा अपेक्षित है। कामायनी के आरंभिक सर्ग 'चिंता' में उन्होंने एक दार्शनिक सूत्र का इस्तेमाल किया है –

"नीचे जल था ऊपर हिम था एक तरल था एक सघन।
एक तत्व की ही प्रधानता – कहो उसे जड़ या चेतन।"

यह कामायनी की बीज प्रकृति की सूचना है। लेकिन कामायनी में दर्शन का विस्तार इसके अंतिम सर्गों में दिखाई देता है जिसमें निर्वेद, दर्शन, रहस्य और आनन्द प्रमुख हैं। कामायनी की प्रमुख दार्शनिक घटना है त्रिपुर का दर्शन, श्रद्धा की स्मिति और समरसता की उपलब्धि।

शैवाद्वैत में इसी समरसता को आनन्द कहा गया है। इसलिए कामायनी का अंत कविता पर नहीं दर्शन पर होता है। कहा जा सकता है कि निर्विवाद रूप से कामायनी के कथ्य विन्यास में दर्शन की भूमिका सबसे महत्वपूर्ण है।

लेकिन इसके बावजूद कामायनी छायावाद की एक महत्तम काव्यात्मक उपलब्धि भी है। इसलिए दर्शन के बावजूद, कामायनी में काव्यात्मक रचनात्मकता के अनेक संदर्भ मौजूद हैं। इसलिए कामायनी में काव्यात्मकता के जो मूल आधार हैं या संदर्भ है उन्हें कुछ बिन्दुओं में देखा जा सकता है।

कामायनी की काव्यात्मकता का एक आधार है कल्पनाशीलता। अगर यह सिर्फ दर्शन की किताब होती या सिर्फ दर्शन इसकी योजना को निर्धारित करता तो कल्पना की आवश्यकता नहीं है। कल्पना छायावाद में कविता की अन्तः प्रेरणा है। पंत ने इसलिए कहा था कि प्रत्येक महत्वपूर्ण अनुभूति और वास्तविक अनुभूति काल्पनिक होती है। प्रत्येक रचनात्मक अनुभूति कल्पना होती है। कामायनी की अन्तर योजना में कल्पना की इस भूमिका को देखा जा सकता है। कल्पना के आधार पर या कल्पना के माध्यम से ही प्रसाद इतिहास और मिथक को जीवन की वर्तमानता में रूपांतरित कर पाते हैं। वह कल्पना से तथ्य को भाव में परिवर्तित करते हैं।

कामायनी की परिस्थितियों के संयोजन में और उसके आकांक्षित जगत में कल्पना का पूरा रचनात्मक किया गया है। आशा सर्ग में कल्पना की भूमिका और महत्व को स्वीकार करते हुए मनु के माध्यम से प्रसाद लिखते हैं *'आह कल्पना का सुन्दर वह जगत मधुर कितना होता, सुख स्वप्नों का तल छाया में पुलकित हो जगता सोता।'* दरअसल कामायनी में एक पूरा जीवन इस कल्पना के माध्यम से रचा गया। इसलिए कल्पनाशीलता कामायनी की काव्यात्मकता की एक बुनियादी इकाई है। जहां बिल्कुल कल्पना नहीं होती उसे शास्त्र कहते हैं। कविता और गैर कविता को अलग करने वाली रेखा चूंकि कल्पना है और कामायनी में कल्पना का प्रयोग है इस बिन्दु पर वह एक छायावाद की बड़ी काव्य कृति स्वीकृत की गई है।

कामायनी की काव्यात्मकता का दूसरा आधार है प्रकृति। छायावाद में प्रकृति की रचना उसकी अन्तर्वर्ती आकांक्षा का एक हिस्सा है। वह प्रकृति के माध्यम से विचार, अनुभूति और सौन्दर्य का एक मनोरम लोक रचता है। कामायनी में प्रकृति अनेक रूपों में उपलब्ध है। इसमें कामायनी के

अनेक रूप दिखाई देते हैं। प्रकृति के बहुत सुकुमार रूपों की चर्चा कामायनी में की गई है। इस दृष्टि से 'आशा सर्ग' का शुरूआती बिंदु *"उषा सुनहले तीर बरसती जय लक्ष्मी सी उदित हुई, उधर पराजित कालरात्रि भी जल में अन्तर्निहित हुई। वह विवर्ण मुख ग्रस्त प्रकृति का आज लगा हंसने फिर से, वर्षा बीती हुआ सृष्टि में सरद विकास नए सिर से।"* यह शायद कोमल रूप है *"नव कोमल आलोक बिखरता हिम संस्कृति भर अनुराग, शीत सरोज पर क्रीड़ा करता जैसे मधुमय पिंग पराग, धीरे–धीरे हिम आच्छादन हटने लगा धरातल से, जगी वनस्पतियां अलसाईं मुख धोती, शीतल जल से।"* प्रकृति के बहुत कोमल रूपों का चित्रण किया है।

इसके साथ–साथ दूसरे रूप भी है जो बहुत उग्र रूप हैं, प्रलय का चित्र, चिन्ता सर्ग में। डा0 नामवर सिंह की टिप्पणी है कि प्रलय का ऐसा चित्र समूची भारतीय कविता में कही नहीं दिखाई देता। प्रलय का अत्यंत बिम्बात्मक और ध्वन्यात्मक रूप कामायनी में चित्रित है जो प्रसाद की उर्जस्वित रचनात्मकता का प्रमाण है। जब प्रलय शुरू हुआ उसका आरंभिक चित्र यह है "हाहाकार हुआ क्रन्दन में, कठिन कुलिश होते थे चूर।" प्रसाद ज्यादा विज्ञान नहीं पढ़े थे लेकिन इस चीज से लगता है कि वह ज्यादा विज्ञान पढ़े थे। प्रलय के क्षणों में इतनी आवाज पैदा होने लगी कि वज्र भी गेहूं के आटे की तरह सीधा हो गया। इस ध्वनि ने लोहे की संरचनाओं को भी मूलतः धूल की तरह बना दिया। ध्वनि में इतनी ताकत हो सकती है जो कठिन चीजों को भी जो बिल्कुल धूल की तरह कर दे। 'हुई दिगंत बधिर'। दिशाएं बहरी हो गईं। ध्वनि एक बार नहीं हुई बल्कि ध्वनि आवृत्त होती रही। दिशा से आग पैदा हुई या क्षितिज से आग के बादल उठे, कहना मुश्किल है। लेकिन आकाश के बीच में जैसे दिशाओं से तो आवाज आ रही थी लेकिन आकाश में भी जैसे गर्जन हो रही थी। ध्वनियों की आंधी चल रही थी। आवाज के शोर की आंधी चल रही थी, ध्वनियों की आंधी ने धरती की संरचना को नष्ट कर दिया। यहां से प्रलय शुरू होता है। ये प्रकृति के ही चित्र हैं, फिर उन्होंने कहा कि सब प्रकाश खत्म हो गया। "अंधकार में मलिन मित्र की धुंधली आभा क्षीण हुई"। जितनी आकृतियां और आकार थे वे अंधकार में खो गये। लिखा कि "बार बार उस भीषण रव से कपती धरती देख विशेष"। "उधर गरजती सिंधु लहरियां कुटिल काल के जालों से, चली आ रही फेन उगलती फन फैलाए व्यालों सी"। और फिर धरती लीलने के लिए समुद्र की लहरें शुरू हुई और अंततः पूरी धरती पर पानी फैल गया।

इसके साथ साथ प्रकृति का मानवीकरण भी किया गया है। छायावाद में प्रकृति के मानवीकरण की प्रवृत्ति बहुत प्रबल है। वह मानवीय व्यवहार से आवेशित दिखाई देती है। प्रकृति को छायावादी कवियों ने स्त्री रूप में देखा है। मनुष्य के रूप में देखा है। कामायनी में प्रकृति के

मानवीकरण के अनेक चित्र मौजूद हैं। उदाहरण के लिए आशा सर्ग से प्रलय का संदर्भ भी है कि पानी उतर रहा है। धरती बहार निकल आई है लेकिन फिर भी चारों तरफ पानी है। कल्पना की गई है कि सिंधु की सेज पर कोई स्त्री बैठी हुई है : "सिंधु सेज पर धरा वधू अब तनिक संकुचित बैठी सी"। समुद्र की सेज पर धरती की वधू शरमाई हुई बैठी है।

इस तरह से कोमल, उग्र और मानवीकरण में प्रकृति के तीनों रूप कामायनी में दिखाई देते हैं।

तीसरा आयाम है सौंदर्यानुभूति। पूरा छायावाद सौन्दर्य के माध्यम से जीवन को देखता है या सौन्दर्य के परिप्रेक्ष्य में जीवन की व्याख्या करता है। दरअसल सौन्दर्य छायावाद के जीवन दर्शन का आधार है। प्रसाद सौन्दर्यानुभूति के अप्रतिम रचनाकार हैं। वैसे निराला को सौन्दर्य का कवि कहा जाता है। लेकिन कामायनी में प्रसाद की सौन्दर्यानुभूति अपने सबसे अधिक रचनात्मक रूप में दिखाई देती है। कामायनी में सौन्दर्य नयनों का इन्द्रजाल है। वह अविस्मरणीय है। अलौकिक है। अज्ञेय है। वह रूप के भीतर से फूटता हुआ अनुभूति एवं भाव के अमूर्त क्षितिज तक फैलता है।

कामायनी : आधुनिकता बोध

इसे चार बिन्दुओं पर देखा जा सकता है :

1– आधुनिकता की अवधारणा
2– भारतीय आधुनिकता के संदर्भ और स्वाधीनता आन्दोलन
3– विभिन्न विचारधाराओं एवं जीवन दृष्टियों पर बहस–प्रसाद के समय ये विचारधाराएं थीं – भोगवाद, विकासवाद, पूंजीवाद एवं साम्यवाद।
4– समकालीन राष्ट्रीय मूल्यों की सर्जनात्मकता

कामायनी की मूल चिंता राष्ट्रीय है न कि राजनीतिक।

आधुनिकता की अवधारणा

प्रत्येक युग की आधुनिकता अपने समय के केन्द्रीय संकटों से जूझकर अपने स्वरूप का निर्धारण करती है। आधुनिकता इतिहास एवं समाज के दबाव से निर्मित होती है। यह प्रदत्त वस्तु नहीं है, बल्कि यह एक प्रक्रिया है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि आधुनिकता शाश्वतता और सार्वभौमिकता का अतिक्रमण करती है और उसकी प्रकृति हमेशा ऐतिहासिकता एवं जातीयता लिए होती है। आधुनिकता मध्यकालीनता विरोधी होती है।

आधुनिकता में दो बिन्दु महत्वपूर्ण होते हैं –

1. ऐतिहासिकता के प्रति कितनी चेतना और वह किस रूप में मौजूद है।
2. लीलावाद आदि का विरोध।

किसी भी कृति में उसकी आधुनिक चेतना तथा भावबोध की उपस्थिति उसकी आधुनिकता होने में निहित है।

अनेक लोगों की धारणा है कि कामायनी के पूरे विधान पर मध्यकालीनता का दबाव बहुत अधिक है। इसलिए मिथकीय एवं पौराणिक विधान के कारण आधुनिकता को पकड़ पाने में कामायनी सक्षम नहीं है। आधुनिकता बोध की ओर आते हुए मध्यकालीन लड़खड़ाहट दिखाई देती है। अतः समय के बड़े अंतराल (20वीं शती के प्रसाद – कथा 5000 वर्ष पुरानी) के कारण कामायनी को आधुनिक रूप में प्रस्तुत कर पाना भी कठिन हो जाता है। कामायनी के अंत में प्रसाद जिस आनंदवाद में लौटते हैं वह भी पौराणिक है।

स्त्री का जो आदर्श रूप कामायनी में दिखाया गया है, वह भी आधुनिक भावबोध से संचालित नहीं होती है। इसलिए प्रसाद का नारी बोध स्त्री के प्रति पुरुष का अंतहीन अधिकार एवं स्त्री–समर्पण इन दोनों ही बिन्दुओं पर प्रसाद सहमत होते दिखाई देते हैं।

उदाहरण : आँसू से भीगे अंचल पर मन का सब कुछ रखना होगा।
तुमको अपनी स्मित रेखा से यह संधि पत्र लिखना होगा।।
नारी तुम केवल श्रद्धा हो

जिस समय कामायनी रची गयी वह असहयोग आन्दोलन का समय था, स्त्रियां सड़कों पर उतरी थीं और प्रसाद द्वारा नारी का ऐसा रूप प्रस्तुत करने पर टिप्पणी की कि प्रसाद के नारी भाव पर मध्यकालीनता का ज़बर्दस्त दबाव दिखाई पड़ता है।

प्रसाद की पूरी जीवन दृष्टि उपस्थित होने के कारण संस्कार एवं समकालीनता का संश्लिष्ट रूप दिखाई पड़ता है।

1) कामायनी की आधुनिकता जीवन की सच्चाई से निर्मित होती है। अतः कामायनी की आधुनिकता पर मध्यकालीन दबाव के छींटे मौजूद हैं। इसके बावजूद इसमें आधुनिकता का पलड़ा भारी है जिसमें –

क– कामायनी की पूरी प्रेरणा इतिहास का पुनर्कथन नहीं है। यहां प्रेरणा सांस्कृतिक अस्मिता की पहचान से है।

इसलिए पश्चिम के कुछ सकारात्मक जीवन मूल्यों के आधार पर परम्परा और जातीय विश्वासों को पुनर्गठित किया गया है।

कामायनी में पश्चिम के यंत्रवाद के खिलाफ, उससे अलग, विकास के प्रति, सामाजिक संबंधों के प्रति हमारा दृष्टिकोण क्या है, यह कामायनी कहती है।

सम्पूर्णता का बोध हमारे जीवन के केन्द्र में है। यहां भारतीय जीवन दृष्टि में समग्र के प्रति एक नैतिक जवाबदेही मौजूद है। वैयक्तिक सुख की अवधारणा भारतीय जीवन पद्धति में मौजूद नहीं है। इसलिए कामायनी की मूल प्रेरणा सांस्कृतिक अस्मिता के प्रति है, जिसके पीछे राजनैतिक चेतना बहुत सूक्ष्म रूप में मौजूद है। इसलिए शुरू से अंत तक यह रचना एक देश के जीवन मूल्यों, संस्कृति तथा निर्णयों से होकर गुजरती है। इस रचना का निर्माण और इसका अंत समता में भी नहीं है। समता के स्थान पर समरसता एवं सुख के स्थान पर आनंद है। इस आनंद की प्रक्रिया श्रद्धा से होकर आती है। यह कामायनी का अपना जीवन दर्शन है।

3. आधुनिकता एक सांस्कृतिक घटना नहीं है, यह एक सतत प्रवाह की प्रक्रिया है। आधुनिकता में मिथक, इतिहास एवं वर्तमान का अन्तर्लयन होता है यानी आधुनिकता जीवन की समग्रता का आख्यान है।

किसी भी समाज या मनुष्य की सच्चाई कालखंडों में मौजूद नहीं होती है। ऐसी स्थिति में सार्थक रचनाएं मूलतः संरचना के स्तर पर काल के तीन रूपों को समाहित करती हैं –

कथा – भूत (इतिहास)
संकट – वर्तमान
स्वप्न – भविष्य

कामायनी स्मृति, वर्तमान तथा स्वप्नबोध को एक स्तर पर समायोजित करती है।

4. कल्पनाशीलता : संभावनाओं को सफल बनाना मानसिक प्रक्रिया है। कल्पना की भूमिका परिवर्तनकारी और ऐतिहासिक होती है। क्योंकि कल्पना ऊर्जा का अक्षय स्रोत है। पूरा का पूरा राष्ट्रीय आंदोलन कल्पना के स्वराज के लिए चलाया जा रहा है। कल्पना की भूमिका जीवन को गति देने वाली ऊर्जा के रूप में भी राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान दिखाती है। अतः कल्पना पलायन नहीं बल्कि वर्तमान के अजेय संकट से मुठभेड़ की ऊर्जा है। इसलिए कामायनी में वर्तमान के खिलाफ कल्पना की गई है –

उदाहरण : मनु का कथन (आशा सर्ग)

आह ! कल्पना का सुन्दर यह जगत मधुर कितना होता
सुख स्वप्नों का दल छाया में पुलकित हो जगता सोता।

बार–बार हारता राष्ट्रीय आंदोलन कल्पना के सहारे खड़ा होता है, यह कामायनी की आधुनिकता का महत्वपूर्ण बिन्दु है। यह कल्पनाशीलता तात्कालिक भारतीय जीवन संकट से जूझने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

संक्षेप में कामायनी का आधुनिकता बोध के (यंत्र और तर्क पर आधारित) तर्क विधान को अस्वीकार करती है अर्थात् पश्चिमी आधुनिकता के समानांतर, लेकिन उससे अधिक मानवीय विकल्प प्रस्तुत करती है, जो एक महान रचना की सार्थक उपलब्धि हो सकती है कि वह ऐतिहासिक समय में एक सार्थक विकल्प प्रस्तुत करे। इसलिए कामायनी की आधुनिकता भारतीय आधुनिकता के मूल तत्वों को निर्धारित करती है और इसका मूल तत्व भारतीय स्वतंत्रता संग्राम है।

विभिन्न विचारधाराएं

कामायनी में विभिन्न विचारधाराओं की सूचना के साथ–साथ बहस भी मौजूद है।

क– भोगवाद की विचारधारा

भोगवाद पश्चिम की संस्कृति पर आधरित है। कामायनी का भोगवाद पश्चिम का एक जीवन तर्क है। ऐसी स्थिति में आत्मकेन्द्रित भोगवाद की चर्चा और पिफर उसका विरोध कामायनी में मौजूद है। भोगवाद मूलतः सुख को मानता है, इसका हश्र क्या होता है, उसकी स्थिति दर्शायी गयी है :

उदाहरण : सुख केवल सुख का वह संग्रह, केन्द्रीभूत हुआ इतना।
छाया पथ में नव तुषार का सघन मिलन होता जितना।
सब कुछ थे स्वायत्त, विश्व के बल, वैभव, आनंद अपार।
उद्वेलित लहरों सा होता, उरा रागृद्धि का सुख सांचार।।

भोगवाद की विशेषता कामायनी में दर्शायी गई है, उरा पर टिप्पणी की गयी है (कर्म सर्ग) अपने में सब कुछ भर कर कैसे व्यक्ति विकास करेगा।

भोगवाद के तर्क कामायनी में मौजूद हैं। अतः आत्मकेन्द्रीयता जो भोगवाद की खासियत है। अतः कामायनी में सुख के तर्क का विरोध कर उसे उदार सामाजिकता के प्रति ले जाने की सोच है।

ख– विकासवाद

डार्विन ने अस्तित्व के पाप–पुण्य, जीवन मरण के सिद्धांतों को ध्वस्त किया। जो जी सकने में समर्थ है वही जी सकेगा। कामायनी में एक दो स्थानों पर विकासवाद की अवधारणा दिखाई पड़ती है। यह नीड़ मनोहर कृतियों का ठहरा जिसमें जितना बल है (काम सर्ग) यह डार्विन के 'सर्वाईवल ऑफ दी फिटेस्ट' की अनुगूंज है।

स्पर्द्धा में जो उत्तम ठहरें वे रह जावें
संसृति का कल्याण करे शुभ मार्ग बतावें।

ग– पूंजीवाद

पूंजीवाद का पूरा प्रतिफल व्यक्तिवाद का पर्याय है। व्यक्तिकता अनिवार्यतः समाज के खिलाफ होती है। पूंजीवाद में शासन करने वाली व्यवस्था सामाजिक तर्क के अन्तर्गत आत्मकेन्द्रित व्यक्ति की स्थापना है।

मनु का चरित्र आत्मकेन्द्रित पूंजीवादी मनुष्य का है। यह पूरी पूंजीवादी सभ्यता किस तरह का जीवन बनाएगी इसका भी संकेत कामायनी में है–

यह अभिनव मानव प्रजा सृष्टि
द्वयता में लगी निरंतर ही वर्णों की करती रहे वृष्टि
कोलाहल कलह अनंत चले, एकता नष्ट हो भेद बढ़े
अभिलाषित वस्तु तो दूर रहे, हां मिले अनिच्छित दुखद खेद।

इस तरह पूंजीवादी समाज और व्यक्ति दोनों की चर्चा कामायनी में है और पूंजीवादी समाज के विकास में एक नए मनुष्य आध्यात्मिक मनुष्य के रूप में प्रस्तुत होता है।

प्रसाद ने पूंजीवादी मनु को मनवांतर में परिवर्तन किया। इड़ा के औद्योगिक परिवेश की जगह श्रद्धा से पुनः मिलने पर श्रद्धा के प्रति समर्पण और यही आनंद के प्रति समर्पण है।

इस आधार पर प्रसाद ने पाश्चात्य जीवन की चमक दमक के बाद शांति के सर्वोत्तम उपाय के लिए भारत को ही श्रेष्ठ दिखाया है।

घ– साम्यवाद

शुक्ल जी ने कहा है कि कामायनी में साम्यवाद की दबी बूंज सुनाई देती है क्योंकि उन्होंने वर्ग की जगह वर्ण शब्द का इस्तेमाल किया है। इड़ा द्वारा बनाई गई साम्यता वर्ग व्यवस्था पर आधारित है।

उदाहरण : अधिकारों की सृष्टि और उसकी वह मोहमयी माया
वर्गों की खाई बन फैली कभी नहीं जो जुड़ने की।
नये तरह की वर्ग संरचना समाज की शांति को नष्ट करती है।

इस तरह कामायनी की आधुनिकता भी अपने समय में प्रचलित विचारधाराओं पर टिप्पणी है एवं काल से परे है और इतिहास के सुरंग में नहीं पहुंचती हैं।

4. ङ – समकालीन राष्ट्रीय मूल्यों की रचनात्मक प्रस्तावना।

कोई भी आधुनिकता अपने समय के मूल्यों से जोड़ती है। इस तरह से अपने समय के मूल्यों की उपस्थिति रचना में मौजूद होती है।

क. जागतिक सत्यता की स्थापना – भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के समय अद्वैतवाद के 'जगत मिथ्या है' को झुठला कर जगत की सत्यता को समझा गया। अतः दार्शनिक एवं सामाजिक स्तर पर जगत की सत्यता और विषमता को विकास का कारण माना गया।

उदाहरण : जिसे तुम समझे हो अभिशाप, जगत की
ज्वालाओं का मूल, ईश का वह रहस्य वरदान
कभी मत इसको जाओ भूल, विषमता
की पीड़ा में व्यस्त हो रहा स्पंदित विश्व महान।

विषमता ही विकास का मूल कारण है। यानी आध्यात्मिक धारणा के स्थान पर भौतिक एवं आधुनिक अवधारणा की गूंज दिखाई पड़ती है। यह मध्यकालीन चिन्तकों की धुरी बदल देती है।

ख. आधुनिकता रूढ़िवादिता का विरोध करती है। जो राष्ट्रीय मूल्य है, इसकी गति को बाधित करने वाली ताकतें जाति, धर्म आदि उस समय मौजूद थीं। अतः राजनीतिक स्वाधीनता के साथ सामाजिक परिवर्तन की भी आवश्यकता थी। अतः परम्परा का विरोध भी कामायनी में मौजूद है।

उदाहरण : पुरातनता का यह निर्मोक सहन करती न प्रकृति एक
नित्य नूतनता का आनंद किये है परिवर्तन में टेक।।

कामायनी में जीवन की नवीनता के प्रति आग्रह दिखाई पड़ता है। पुराने को छोड़ने और नये को संधान करने की कोशिश भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन में चल रही थी। अतः भाषा के धरातल पर एक नया युग मौजूद है जो कामायनी का महत्वपूर्ण हिस्सा है।

ग. निर्भयता और सम्भावना

कामायनी में निर्भयता और सम्भावना के संकेत मौजूद हैं जो उस समय गांधी जी के माध्यम से भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में मौजूद थे।

उदाहरण : डरो मत अरे अमृत संतान अग्रसर है मंगलमय वृद्धि
पूर्ण आकर्षण जीवन केन्द्र खिंची आवेगी सकल समृद्धि।

घ. शक्ति की केन्द्रीय भूमिका

ब्रिटिश साम्राज्यवाद से प्रार्थना के स्तर पर नहीं लड़ा जा सकता है। कामायनी में भी जो शक्ति संचय का आह्वान किया गया है वह राष्ट्रीय जरूरत से मिलता जुलता है।

उदाहरण : शक्ति के विद्युतकण, जो व्यस्त विकल बिखरे हैं, हो निरूपाय,
समन्वय उसका करे समस्त, विजयिनी मानवता हो जाये।।

यह शक्ति संचय मानवीयता के लिए है। नैतिकता मूलतः सार्वजनिकता से जोड़ कर ही शक्ति प्राप्त करती है।

ङ. गांधी की धमक

कामायनी में गांधी की धमक दिखाई पड़ती है। श्रद्धा का चरखा इस बात का प्रतीक है कि जो उत्पादन का उपयोग करता है उसे उत्पादन की प्रक्रिया में भाग लेना चाहिए। इस तरह से चरखा उत्पादन एवं श्रम के रिश्तों को लागू करने का नाम है। कामायनी में श्रद्धा तकली आदि कातने का कार्य करती है। अतः श्रद्धा के चरित्र में गांधीवादी चेहरा दिखाई पड़ता है।

उदाहरण : बीजों का संग्रह और उधर चलती है तकली भरी गीत।
सब कुछ लेकर बैठी है वह मेरा अस्तित्व हुआ अतीत।।

कामायनी में श्रम, सादगी, अपरिग्रह और पश्चिम के बाजारवाद के खिलाफ एक मुकम्मल दृष्टि है। कामायनी में श्रद्धा के जीवन में भी सादगी की महत्वपूर्ण भूमिका है।

संक्षेप में कामायनी आधुनिक खड़ी बोली का महत्तम महाकाव्य है इसलिए उसमें वर्तमान भारत के संकटों एवं स्वप्नों की उपस्थिति है। कामायनी के आधुनिक बोध पर, इसके स्वरूप को लेकर प्रश्नचिन्ह लगाया जा सकता है, लेकिन कामायनी के संकटों की पहचान में प्रसाद का आधुनिक भावबोध निर्विवाद है।

इस तरह कामायनी एक भाववादी रचना है। आधुनिकता एवं भावबोध को लेकर जो संबंध बनते हैं, उन संबंधों की सीमाएं एवं संभावनाएं इस रचना की भी हैं। इसमें संदेह नहीं कि यूरोप के भोगवाद एवं विकासवाद के खिलाफ यह रचना आनंदवाद का स्वप्निल विकल्प देती है, वस्तुतः विकल्पात्मकता में ही कामायनी की आधुनिकता निहित है।

छायावादी विशेषताओं के संदर्भ में कामायनी

1. व्यक्तित्व का बोध आधुनिक परिघटना है। समाज और संपूर्ण से अलग अपने अस्तित्व का बोध वैयक्तिकता का मूल आधार है। वैयक्तिकता के उदय का कारण उन सामाजिक ऐतिहासिक परिस्थितियों में है जिनमें सामाजिक सामूहिकता से भिन्न इकाई की अस्मिता का प्रश्न पैदा होता है। यानी वैयक्तिकता समूह से भिन्न होकर अपनी अस्मिता के बोध का परिणाम है। कामायनी के मनु इसी वैयक्तिक अस्मिता के प्रतीक हैं। आशा सर्ग में उनका यह कथन –

मैं हूँ यह वरदान सदृश्य क्यों लगा गूंजने कानों में।
मैं भी कहने लगा मैं रहूं शाश्वत नभ के तारों में।।

'मैं हूँ' यह बोध ही वैयक्तिकता की आधारभूमि है। यह वैयक्तिकता इतिहास, समाज और प्रकृति की विराट परम्परा में जीवन के अर्थ की खोज अपने ढंग से करना चाहती है। यानी इस वैयक्तिकता का एक महत्वपूर्ण लक्षण है अर्थ के केन्द्र की खोज विकास की एक नितांत अभिनव अवधारणा।

इन गुहा कुंज मरुअंचल में हूं खोज रहा अपना निकास। – बड़ा सर्ग

समाज द्वारा प्रदत्त और सुरक्षित जीवन के वृत्त से बाहर सार्थकता के नये लोक की तलाश इस व्यक्तिवाद में दिखायी देती है। कामायनी में प्रसाद ने इस व्यक्तिवाद के विभिन्न धरातलों को रेखांकित किया है।

1) आत्मकेन्द्रिकता – इसका अर्थ है समूची सृष्टि को अपने सुख और तृप्ति के माध्यम के रूप में देखना। यह व्यक्तिवाद का आत्मकेन्द्रित धरातल है और इस व्यक्तिवाद को उन्होंने पश्चिमी धरातल का बीज शब्द मान लिया है। छायावाद व्यक्तिवाद को महत्वपूर्ण मानता है लेकिन व्यक्तिवाद की दुष्परिणतियों का बोध भी उस कविता में है। इसलिए व्यक्तिवाद के आत्मनिस्तार की प्रक्रिया की खोज भी उस कविता में है। इस बिन्दु पर कामायनी पश्चिम के व्यक्तिवाद के आत्मपरिष्कार के लिए भारतीय संस्कृति और मूल्य चेतना को प्रस्तावित करती है। श्रद्धा, जो भारतीय चिंतन का प्रतीक है, उसका वक्तव्य है :

अपने में सब कुछ भर व्यक्ति कैसे विकास करेगा।
यह एकांत स्वार्थ भीषण अपना नाश करेगा।।

छायावाद में व्यक्तिवाद आत्मपरिष्करण की प्रक्रिया से गुजरते हुए सार्थकता के सर्वोच्च बिन्दु 'आनन्द' को प्राप्त करता है। मनुज व्यक्तिवाद के प्रतिनिधि हैं। मनु को कामायनी में प्रसाद ने जिस बिन्दु तक पहुंचाया है वह आनंद है। नितांत आत्मकेन्द्रिकता से समरसता तक मनु यात्रा करते हैं। यह व्यक्तित्व के आत्मविस्तार की यात्रा है।

मनु का चरित्र पूरी तरह पश्चिमी व्यक्तिवाद से बना है। इड़ा के साथ मिलकर वह जिस नगर सभ्यता का निर्माण करते हैं, वह पाश्चिमी विकास से मिलता जुलता है। मनु और इड़ा के संबंधों के तनाव के माध्यम से वे यह भी संकेत करते हैं कि अगर व्यक्तिवाद को आध्यात्मिक मूल्यों से न जोड़ा गया, उसे भावात्मक धरातल पर न प्रतिष्ठित किया गया, तो वह बुद्धि का आत्मघाती प्रयोग करेगा।

आधुनिक संदर्भ में तकनीक का इस्तेमाल सभ्यता के हनन के लिये किया गया है। तकनीक और वर्तमान चूंकि मनुष्य का है, इस व्यक्तिवाद की सीमाएं हैं और उसे प्रसाद मूल्यवाद, भाववाद से जोड़ते हैं। अतः कामायनी में जिस व्यक्तिवाद की चर्चा है, वह विकसनशील है।

2. कल्पना और जिज्ञासा

कल्पना छायावाद के अनुसार मनुष्य जीवन का प्राण है। कल्पना की यह केन्द्रीकता व्यक्तित्व बोध के कारण है। कल्पना ज्ञान की समूची परंपरा की निर्जीवता के विकल्प में पैदा होती है। ज्ञान जब हमारे अंतस का स्पर्श नहीं करता तो हम नदी की इच्छा करते हैं, यह इच्छा ही कल्पना है। इच्छा का संबंध व्यक्ति से समाज की आवश्यकताएं होती हैं। इस तरह कल्पना यथार्थ के अभेद्य वृत्त के भीतर एक अपनी दुनिया के निर्माण की इच्छा है।

आह ! कल्पना का सुंदर वह जगत मधुर कितना होता। – आशा सर्ग

कामायनी में प्रसाद कल्पना के माध्यम से ही इतिहास और मिथक को जीवन की वर्तमानता में रूपांतरित करते हैं। इस तरह कल्पना का उपयोग कामायनी में समय के अंतरालों में चेतना की अंतःसूत्रता स्थापित करने के लिए भी किया गया है। कामायनी में प्रकृति और सौन्दर्य के अविस्मरणीय प्रसंग छायावादी कल्पनाशीलता के प्रमाण के रूप में देखे जा सकते है।

3. रहस्यात्मकता

छायावाद के रहस्यवाद को लेकर हिन्दी आलोचना में पर्याप्त विवाद है, लेकिन कामायनी में यह स्पष्ट है कि इस रहस्यवाद का आधार आध्यात्मिक नहीं है। कामायनी में प्रसाद रहस्यवाद का प्रयोग विज्ञान और बुद्धि के विरोध में करते हैं। इस तरह कामायनी में रहस्य विज्ञान और बुद्धिवाद के निष्कर्षों और उसके प्रभावों के नकार के लिए है। अनुभूतियों और जिज्ञासाओं के अनेक छिद्र हैं, मनुष्य के जीवन में जहां बुद्धि और विज्ञान की पहुंच संभव नहीं है। कुछ प्रश्न हैं जिनका उत्तर बुद्धि नहीं दे सकती। वस्तुतः मनुष्य का जीवन ज्यामितिक प्रत्यक्षता से अनुशासित नहीं होता, इसलिए जीवन के बहुत सारे प्रश्न और परिस्थितियां रहस्य के कोहरे में लिपटी हुई होती है। प्रलय के बाद कामायनी में मनु प्रकृति की विराटता को देखकर विस्मित होते हैं। क्षितिज तक फैला अग्रभेदी हिमालय, आसमान में चमकते सितारों की दुनिया, जंगल, हरियाली और घाटियों में बहते हुए झरने में सभी मनु की चेतना में नैसर्गिक सौन्दर्य का बोध उत्पन्न करते हैं और उनके मन में स्वाभाविक रूप से जिज्ञासा पैदा होती है – इस सुंदर और विराट सृष्टि का निर्माता कौन है ?

हे अनंत रमणीय कौन तुम ? यह मैं कैसे कह सकता।
कैसे हो क्या हो ? इसका तोभार विचार न सह सकता।।

महानील इस परम व्योम में

4. वेदना का तत्व

यह वेदना छायावादी भावबोध और उसकी जीवन दृष्टि का आधार है। इस वेदना के अनेक सामाजिक–ऐतिहासिक कारण हैं। दुःख की प्रकृति सामाजिक होती है। इस दुख को जब व्यक्ति निजता के स्तर पर ग्रहण करता है, वही वेदना हो जाती है। इसलिए वेदना व्यक्ति के अकेलेपन, उसकी निरूपायता और अर्थहीनता के तनाव से उत्पन्न होती है। प्रलय में अकेले बचे हुए मनु जब अपने जीवन के भविष्य और सार्थकता पर विचार करते हैं, तो उन्हें पहली बार बेधक वेदना की अनुभूति होती है। इसलिए यह भी ध्यान रखना चाहिए कि वेदना का धरातल 'आत्म' है, इसका संबंध वस्तुगत परिस्थितियों से नहीं होता। वह परिस्थितियों के प्रति भावात्मक प्रतिक्रिया से उत्पन्न होती है और इसलिए वेदना की पहली अनुभूति जीवन की सार्थकता के प्रश्न से होती है।

तो फिर क्या मैं जिऊँ और भी ~ जीकर क्या करना होगा ?
देव बता दो अमर वेदना लेकर कब मरना होगा ?

तो फिर क्या मैं जिऊँ और भी,
जीकर क्या करना होगा?

इसलिए जो व्यक्ति जीवन का द्रष्टा होगा और उसकी सार्थकता के प्रश्न उठायेगा वह अनिवार्यतः वेदना में होगा।

अज्ञेय – जो वेदना में नहीं वह द्रष्टा नहीं हो सकता।

कबीर – दुखिया दास कबीर है, जागे अरू रोवे।

वेदना की यह प्रकृति व्यक्ति के जीवन की सार्थकता के प्रश्न के भीतर से पैदा होती है। इस वेदना का एक और कारण –

जीवन की निरर्थकता का बोध भी है।

मनु श्रद्धा से पहली मुलाकात में अपना आत्म परिचय देते हुए जिन प्रसंगों का उल्लेख करते हैं वे वेदना के सूत्रों से जुड़े हुए हैं।

श्रद्धा सर्ग में

कहा मनु ने नभधरणी बीच बना जीवन रहस्य निरूपाय।

इस तरह कामायनी में प्रसाद ने वेदना को व्यक्तित्व बोध की अनिवार्य परिणति के रूप में रेखांकित किया है।

5. प्रकृति

छायावाद में प्रकृति रचना की अंतर्वर्ती आकांक्षा का ही एक हिस्सा है। वह प्रकृति के माध्यम से विचार, अनुभूति तथा सौन्दर्य के एक मनोरम लोक की रचना करता है। कामायनी में प्रकृति की योजना महज सौन्दर्य के लिये या अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिए ही नहीं की गई है। यह प्रकृति प्रसाद के जीवन दर्शन का अंग है। इस प्रकृति के अनुसार जीवन चेतन सत्ता है। प्रकृति और जीवन में सहयोग और संतुलन अपेक्षित है। प्रसाद मानते हैं कि सभ्यता के विकास की प्रक्रिया में प्रकृति का निर्मम दोहन होता है। सभ्यताएं प्रकृति के छंद में हस्तक्षेप करती हैं। कामायनी में जिस प्रलय का उल्लेख किया गया है, वह देव संस्कृति के चरम भोगवाद का परिणाम है। चिंता सर्ग।

प्रकृति रही दुर्जेय पराजित हम सब थे भूले मद में।
भूले थे, हाँ तिरते केवल सब विलासिता के मद में।।

स्वयं देव थे हम सब तो क्यों विश्रृंखल होती सृष्टि।
सभ्यता को प्रकृति पर अत्याचार के रूप में।

देव सभ्यता – पश्चिमी सभ्यता – भोगवादी सभ्यता।

इस कामायनी में प्रकृति का प्रयोग अपनी जीवन दृष्टि की अभिव्यक्ति के लिए किया गया है। इसमें अतिरिक्त प्रकृति का प्रयोग कामायनी में सौन्दर्य के लिए विध्वंस की भयानकता के चित्रण के लिए भी किया गया है।

कामायनी में प्रकृति के बेहद संवेदनशील और कोमल रूपों का चित्रण है –

उषा सुनहले तीर बरसती जय लक्ष्मी सी उदित हुई। – आशा सर्ग

इस प्रक्रिया में वे प्रकृति के चेतन होते रूप का वर्णन करते हैं –

वह विवर्ण मुख त्रस्त प्रकृति का आज लगा हरने फिर से
वर्षा बीती, हुआ सृष्टि में शरद विकास नये सिर से।।

प्रकृति के रौद्र / विध्वंसक रूप – अप्रतिम चित्रण

उधर गरजती सिंधु लहरियां कुटिल काल के जाली सी। – चिंता सर्ग

हिन्दी कविता में प्रकृति का यह रूप अपूर्व है।

मानवीयकरण

प्रकृति को प्रसाद चूंकि रागबोध से देखते हैं, इसलिए छायावाद में प्रकृति मानवीय रूप में देखते हैं। जड़ रूपों को भी जब मानवीय संबंधों में देखते हैं, तो उसके प्रति हमारा व्यवहार मनुष्यों जैसा होता है –

सिंधु सेज पर धरा वधु
अब तनिक संकुचित बैठी सी। – आशा सर्ग

6. सौन्दर्यानुभूति

छायावाद सौन्दर्य के माध्यम से जीवन को देखने वाली दृष्टि है। कामायनी सौन्दर्यानुभूति की दृष्टि से छायावाद की अप्रतिम उपलब्धि है। प्रसाद की सौन्दर्यानुभूति की सबसे बड़ी विशेषता है, उनकी सूक्ष्मता। प्रसाद का सौन्दर्य बोध अवयवों के चित्रण में प्रकट नहीं होता वह एक समग्र प्रभाव में चेतना में व्याप्त हो जाता है। श्रद्धा के सौन्दर्य के चित्रण में प्रसाद ने नितांत नये और दीप्ति से भरे हुए उपमानों का प्रयोग किया है।

या कि नव इंद्र नील लघु श्रृंग फोड़ कर धधक रही हो कांत
एक लघु ज्वालामुखी अचेत माधवी रजनी में अश्रांत ।। – श्रद्धा सर्ग

659400 IAS/PCS 9868

दरअसल प्रसाद के यहां नयनों का अविस्मरणीय और अलौकिक सौन्दर्य ज़ाल है। वह रूप के भीतर से फूटता हुआ अनुभूति और भाव के क्षितिज तक फैलता है। इस सौन्दर्य में दीप्ति और दाह का संयोग हैं।

प्रसाद सौन्दर्य को स्थूलता में नहीं बल्कि गति और रूप के संयुक्त प्रभाव के बिन्दु पर चित्रित करते हैं। उनके सौन्दर्य में देह और प्रकृति एक दूसरे में घुलमिल जाते हैं।

7. नारी

छायावाद में नारी एक भावात्मक सत्ता है। वह विशुद्ध मानसिक सृष्टि है। कामायनी में भी स्त्री के प्रति प्रसाद की दृष्टि नितांत काव्यात्मक है और वे स्त्री को भावतरल प्रसंगों के धरातल पर प्रतिष्ठित करते हैं। भावुकता, दुर्बलता और आत्मसमर्पण को वे स्त्री के शाश्वत और सार्वभौमिक गुण मानते हैं। इसलिए स्त्री को लेकर कामायनी की कथा की अंतर्योजना सामंती चेतना का ही एक उदात्तीकृत रूप है।

यह आज समझ तो पाई हूं मैं दुर्बलता में नारी हूँ।
अवयव की सुंदर कोमलता लेकर मैं सबसे हारी हूँ।।

स्त्री की आंतरिक कमजोरी (भाव के स्तर पर)

मैं जभी तोलने का करती उपचार स्वयं तुल जाती हूँ। – लज्जा

स्त्री–पुरुष संबंधें के विधान में प्रसाद का दृष्टिकोण :

आंसू से भीगे आंचल पर मन का सब कुछ रखना होगा।
तुमको अपनी स्मिति रेखा से यह संधि–पत्र लिखना होगा।।

स्त्री उसी दिन पराजित हो गई जिस दिन उसने पुरुष की सत्ता और उसके महत्व को सपनों में शामिल किया या पुरुष को महत्व देते हुए अपने सपनों तक का समर्पण कर दिया।

क्या कहती हो ठहरो नारी, संकल्प अश्रु जल से।
तुम दान कर चुकी पहले ही, जीवन के सोने से सपने।। – लज्जा

सामंतवादी दृष्टि उदात्तीकृत ~ रूप में कामायनी में दिखती है। यह पूरी तरह छायावादी भावबोध के अनुरूप है।

समग्रतः कामायनी महाकाव्य के काव्यशास्त्रीय ढांचे का निर्वाह न करते हुए भी अंतर्वस्तु और रचनात्मकता के जिन आयामों का स्पर्श करती है, वे कविता के उच्चतर धरातल से संबंधित हैं। यह ध्यान रहना चाहिए कि कामायनी छायावादी कृति है, इसलिए उसकी महाकाव्यात्मकता में प्रगीतात्मक तरलता भी भरपूर है। वह खड़ी बोली की एकमात्र ऐसी कृति है जिसकी अंतर्वस्तु में इतिहास के सबसे बड़े सवाल उठाये गये हैं और जिसका रचना विधान हिंदी भाषा की सामर्थ्य को शिखरों तक ले जाता है। इसलिए कामायनी को हमारे युग का विचारणीय महाकाव्य कहा जा सकता है।

कामायनी का जीवन–दर्शन (आधुनिकता बोध/आधुनिकता)

प्रसाद का व्यक्तित्व एक कवि, चिंतक और दार्शनिक का व्यक्तित्व है। प्रसाद के यहां साहित्य का संबंध संस्कृति के ऐतिहासिक प्रश्नों और जीवन की पूर्णता की तलाश से भी है। प्रसाद रचना को जातीय अस्मिता और जीवन के आध्यात्मिक प्रश्नों से जोड़ते हैं। इसलिए उनकी रचनाएं औपनिवेशिक भारत के महत्वपूर्ण प्रश्नों को उठाने के साथ ही जीवन के आत्यंतिक प्रश्नों को भी अपनी चिंता में शामिल करती है।

प्रसाद के चिंतन पर प्रतिभिज्ञा दर्शन (कश्मीरी शैवाद्वैत) का बहुत गहरा प्रभाव है। कामायनी में प्रसाद इस शैवाद्वैत के साथ ही चिंतन और जीवन दृष्टि के उन सभी प्रसंगों को भी शामिल करते हैं जिनसे प्रसाद के समकालीन प्रश्नों के उत्तर का संबंध है। इसलिए कामायनी महज कविता नहीं है बल्कि वह अपने समय और समाज के प्रति एक बड़े रचनाकार के दृष्टिकोण और पश्चिमी सभ्यता के विकल्प की संभावनाओं की खोज भी है। इस दृष्टि से प्रसाद के जीवन दृष्टि के विभिन्न पक्षों पर विचार किया जा सकता है।

कामायनी में प्रसाद के दर्शन का मूल आधार शैवाद्वैत है। यह शैवाद्वैत कामायनी के रचना विकास में आद्यंत मौजूद है। वे शैवाद्वैत के तत्वदर्शन का प्रयोग कामायनी के अलग–अलग संदर्भों में करते हैं।

शैवाद्वैत के अनुसार जिसे ब्रह्म कहा जाता है (अद्वैत में) यहां चिति कहा जाता है। यानी अपने क्रियात्मक रूप में जगत भिन्नताओं से भरा हुआ दिखायी देता है लेकिन चेतना के स्तर पर भिन्नता की कोई सत्ता नहीं होती। वहां सभी भेद समाप्त हो जाते हैं।

उपरहिम था नीचे जल, एक तरल था एक सघन।
एक तत्व की ही प्रधानता कहो उसे जड़ या चेतन।।

इसलिए भेदों का निरूपण अज्ञान का परिणाम है और यह अज्ञान ही जगत की ज्वालाओं का मूल है।

शैव दर्शन में दुःख के कारणों पर विचार किया गया है और दुख का बुनियादी कारण बुद्धिवादी दृष्टि को कहा गया है। बुद्धिवाद समग्रता विरोधी दृष्टि है। इसलिए इच्छा, क्रिया और ज्ञान की भिन्नता को प्रसाद, बुद्धिवाद का पर्याय मानते हैं। शैवदर्शन में इसे 'त्रिपुर' कहा गया है। कामायनी में 'त्रिपुर' का उल्लेख है। इस त्रिपुर में अंतःसूत्रता के बिना जीवन कोलाहल और भटकाव से भर जाता है। कामायनी के मनु इसी भटकाव के शिकार हैं। त्रिपुर की यह अंतःसूत्रता श्रद्धा या भाव के माध्यम से घटित होती है। इसके अतिरिक्त प्रसाद ने शैवदर्शन के अनेक शब्दों का भी प्रयोग किया है –

'चिति' ~ यह संपूर्ण सृष्टि सत्य है, जगत सत्य है और इस जगत में 'चिति' आनंद के माध्यम से अपने को व्यक्त करती है। यह संपूर्ण जगत चिति के लीलामय आनंद से आवेशित है।

1. अन्मय कोश – सबसे निचला स्तर
2. मनोमय कोश – मन का स्तर
3. प्राणमय कोश
4. आनन्दमय कोश – चिति में सिर्फ आनन्द है
5. विज्ञानमय कोश

शैवाद्वैत आनन्दमय कोश से आगे नहीं जाता।

जब तक चेतना आनन्दमय कोश तक नहीं पहुंचती तब तक आनन्द नहीं। शुरू में मनु अन्नय कोश तक हैं। ~ अंत में श्रद्धा के सहयोग से आनन्दमय कोश तक।

चेतनता अनंत विलसती थी आनंद अखंड घना है।

शैवाद्वैत –

कर रही लीलामय आनंद जहाचिति सजग हुई सी व्यक्त।
विश्व का उन्मीलन अभिराम – इसी में सब होते अनुरक्त।। – श्रद्धा

'समरसता' ~ का अर्थ चेतना की एक ऐसी अवस्था ~ जहां सभी प्रकार के भेद समाप्त हो जाते हैं। शैवाद्वैत मानता है कि भेद दृष्टि ही दुख का बुनियादी कारण है, इसलिए भेद के समाप्त होने की दशा का नाम है समरसता। इसलिए समरसता चित्त की एक अवस्था का नाम है। 'कैलाश' शिव के लोक में पहुंचने पर समरसता का दर्शन होता है :

समरस थे जड़ या चेतन सुंदर साकार घना था।
चेतनता एक फिसलती आनंद अखंड घना था।।

इसलिए समरसता एक अवस्था है और उसकी अनुभूति का नाम है आनन्द। आनन्द समरसता की सुगंध है। समरसता के माध्यम से आनन्द घटित होता है ~ सौन्दर्य का बोध भी है और चेतना की एकता भी है ~ यह आनंद दशा है जो समरस चित में घटित होती है। यानी काई से ढंके जल पर सूर्य का प्रतिबिंब नहीं बनता, उसी तरह जो असमरस है, उस पर आनंद का प्रतिबिंब नहीं बनता। 'चंचलता नहीं ~ चित्त की स्थिरता और निर्मलता की अवस्था समरसता की अवस्था है। इस समरसता को श्रद्धा के माध्यम से ही उपलब्ध कराया जा सकता है।

यह आनंद 'अखंड' है खंडित नहीं।

इस प्रकार यह आनंद औपनिषदिक तत्वों से प्रभावित और शैवाद्वैत द्वारा प्रतिपादित अभेदमय आत्मा स्वरूप है जिसमें आत्मा और शिव ही नहीं बल्कि आत्म और जगत में भी पूर्ण ऐक्य की भावना रहती है। इस अखंड आत्मानुभूति में द्वैतता के लिए कोई स्थान नहीं, यह जीवन की सिद्धावस्था है।

इस तरह प्रसाद कामायनी में शैवदर्शन के अनेक प्रसंगों को चित्रित किया है।

अपने युग की चुनौतियों के अनुरूप प्रसाद विभिन्न दर्शनों के सूत्रों का उपयोग कामायनी में करते हैं। छायावाद के प्रतिनिधि कवि होने के कारण प्रसाद बुद्धिवाद का विरोध करते हैं। बुद्धिवाद के इस विरोध को प्रसाद दो भिन्न सभ्यताओं की टकराहट से जोड़ते हैं। इसलिए बुद्धिवाद का संदर्भ पश्चिमी संस्कृति/पश्चिमी जीवन दर्शन है। और बुद्धिवादी जीवन दर्शन की तुलना में वे भाववादी जीवन दर्शन की श्रेष्ठता प्रतिपादित करते हैं। कामायनी में बुद्धि और भाव को एक द्वन्द्वात्मक विधान में प्रस्तुत किया गया है। बुद्धिवाद ~ इड़ा के कथन से –

हां तुम ही हो अपने सहाय, जो बुद्धि कहे उसको न मानकर
फिर किसकी नर शरण जाय।
जितने विचार संस्कार रहे, उसका न फिर दूसरा उपाय।। – इड़ा

यह प्रकृति रमणीय अखिल

बुद्धि की क्रियात्मक अभिव्यक्ति जिस अनुशासन में होती उसे विज्ञान कहते हैं। बुद्धि, विज्ञान और तकनीक में अनिवार्य संबंध।

इड़ा ~ सृष्टि की विराट संपदा का दोहन, उपभोग सब कुछ बुद्धि के माध्यम से होगा।

प्रसाद ने बुद्धिवाद के दुष्परिणामों को कामायनी में चित्रित किया है। – बुद्धि

चेतना का भौतिक विभाग करती है और इस तरह विग्रह/फूट, कलह और संघर्ष को अपरिहार्य बनाती है। बुद्धिवाद अहंकार और हिंसा का दर्शन पैदा करता है। इड़ा के साथ बनायी गयी सभ्यता में नियम तो बनते हैं, पर उस नियम को तोड़ने का भी अधिकार है। इसलिए बुद्धिवाद के द्वारा निर्मित सभ्यता व्यवस्थित रूप से अराजक होती है।

अमेरिका – UNO ~ मनु – इड़ा।

यह बुद्धिवाद का अनिवार्य दुष्परिणाम है, इसलिए बुद्धिवाद से संचालित दुनिया विध्वंस और अशांति की दुनिया है। अतः हिंसा और विघटन को बुद्धिवाद जन्म देता है।

बुद्धिवाद का अर्थ प्रसाद ने मशीनीकरण भी किया है – मशीन मनुष्य की प्राकृतिक शक्तियों को नष्ट करती है, यह प्रसाद की स्थिर राय है। इस प्रकृति शक्ति के अभाव में, मनुष्य की देह, उसके मन और उसके द्वारा बनायी गयी सभ्यता तीनों ही विकृत हो जाती है। इसलिए मशीन एक विकृत और बीमार सभ्यता के निर्माण का कारण बनती है।

प्रकृति शक्ति यंत्रों से तुमने सबकी छीनी।
शोषण कर जीवनी बना दी जर्जर झीनी।।

मशीनी सभ्यता जीवन को जर्जर, कमजोर बनाती है, इसलिए बुद्धिवाद के तर्कों का उत्तर प्रसाद जीवन और सभ्यता के प्रत्यक्ष प्रमाणों के आधार पर देते हैं।

भारतीय जीवन दर्शन निवृति मार्ग :

प्रसाद के अनुसार यह निवृति मार्ग मूलक चेतना इस देश के सामाजिक पतन का मुख्य कारण है। इसलिए इस निवृति को प्रवृतिमूलकता में बदलने की ऐतिहासिकता में नवजागरण का उदय होता है। (मोक्ष की कल्पना ~ नितांत वैयक्तिक) निवृतिमूलक मांग अपने वर्तमान और समाज की उपेक्षा पर आधारित है। कामायनी में नवजागरण की सांस्कृतिक चेतना की काव्यात्मक फलश्रुति हुई है। बीजरूप ~ प्रवृति मार्ग है। कामायनी अनेक संदर्भों में प्रवृतिमूलकता को केन्द्रीय महत्व देती है। कुछ पक्ष : निवृत्तिमूलकता काम को पतन का मूल कारण मानती है। काम पतन का कारण होने के साथ ही साथ मूल्य विरोधी, अनैतिक और अध्यात्म द्रोही भाव है। काम के प्रति निवृति मार्ग को खारिज करते हुए प्रसाद ने लिखा –

काम मंगल से मंडित सर्ग इच्छा का है परिणाम।
तिरस्कृत कर उसको तु, भूल बनाते हो असफल भवधाम।।

यह शुभ और सौन्दर्य की चेतना पैदा करता है। सबसे अधिक मांगलिक और सृजनात्मक मनुष्य का जन्म–सृष्टि की एक मांगलिक घटना, ~ यह जन्म काम से होता है। जो प्रक्रिया मनुष्य को बनाती है/ जन्म देती है, वह अनैतिक और पतनमूलक कैसे हो सकती है।

सृष्टि का संपूर्ण अस्तित्व काम के कारण है। जो काम संपूर्ण सृष्टि का आधार हो वह अमांगलिक नहीं हो सकता। इसलिए काम को आदर की दृष्टि से कामायनीकार देखता है। पतन और अनैतिकता को खारिज करता है।

कर्म सिद्धांत – गीता का दर्शन ~ निवृतिमूलक है। मनुष्य को सिर्फ कर्म करने का अधिकार है। इस दर्शन में कर्म कर्म-फल में कार्य कारण संबंध नहीं। लेकिन प्रसाद के अनुसार कर्म की सार्थकता इसमें है कि वह फल से युक्त हो। इसलिए कर्म आनंद की ओर की जाने वाली यात्रा है। कर्म यानि गति/लक्ष्य/अर्थ का अनुभव अगर यह नहीं तो जीवन नष्ट हो जायेगा। इसलिए कर्म को आनंद से और आनंद को भोग से संबद्ध किया गया है।

कर्म का भोग भोग का कर्म,
यही जड़ का चेतन आनंद। – श्रद्धा

आत्मपीड़न : इसमें तपस्या को बहुत महत्व है। वही मनुष्य इस समाज में आदरणीय हो सकता है जो तपस्वी हो।

श्रद्धा सर्ग में तप की केन्द्रीयता का विरोध करते हुए श्रद्धा मनु से कहती है –

तप नहीं केवल जीवन सत्य, करुण यह क्षणिक दीन अवसाद।
तरल आकांक्षा से है भरा – सो रहा आशा का आह्लाद।।
बनो संसृति के मूल रहस्य तुम्हीं से फैलेगी यह बेल।
विश्व भर सौरभ से भर जाए, सुमन के खेलो सुंदर खेल।।

इस तरह तपस्या के स्थान पर भावना की तरलता और देह संबंधों के संगीत को भी कामायनीकार महत्व देता है।

कामायनीकार मनुष्य के भविष्य में अपनी गहरी आस्था को व्यक्त करता है। उसने इस धरती को विधाता की कल्याणी सृष्टि कहा है। इस धरती को अधिक सुंदर, सार्जनात्मक और सार्थक बनाया जा सकता है। यानी जीवन और धरती को सुंदरतम बनाने में व्यक्ति की भूमिका को

उत्कर्ष क्लासेज (रजि.) IAS PH.2659400 IAS/PCS.9868448606

कामायनीकार स्वीकार करता है। यह एक ऐसी सृष्टि होगी जो समरसता पर और चेतना की एकता पर आधारित होगी।

विधाता की कल्याणी सृष्टि सफल हों इस भूतल पर पूर्ण।
पटें सागर, बिखरें ग्रह पुंज और ज्वालामुखियां हों चूर्ण।। – श्रद्धा

इस तरह हम शक्ति के बिखरे हुए विद्युत कणों को समेट कर उनमें समन्वय करें और मनुष्यता को विजयी बनायें –

शक्ति के विद्युतकण जो व्यस्त विकल बिखरे निरुपाय।
समन्वय उसका करे समस्त विजयिनी मानवता हो जाय।। – श्रद्धा

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है, कामायनी छायावाद की प्रतिनिधि रचना है। यद्यपि छायावाद में कविता को एक आनुभूतिक प्रक्रिया के रूप में देखा गया है, लेकिन एक प्रबंधात्मक कृति के रूप में कामायनी प्रसाद के संपूर्ण जीवन दर्शन का प्रतिनिधित्व करती है। इस कृति पर शैवाद्वैत के अतिरिक्त प्रसाद के उन विचारों का भी प्रभाव है जिन्हें उन्होंने युग की चुनौतियों के बोध से हासिल किया था। पश्चिम और पूरब के सांस्कृतिक द्वंद्व के रूप में भी कामायनी का पाठ किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त वे भारतीय मनुष्य के संस्कार का पुनर्गठन भी प्रवृतिमूलकता के आधार पर करते हैं। इसलिए कामायनी के जीवन दर्शन के अनेक ऐसे पक्ष हैं जिन्हें आधुनिक भावबोध से संपन्न माना जा सकता है। हर महान कृति की तरह कामायनी की अपनी सीमाएं भी हैं। कामायनी में नारी के प्रति दृष्टिकोण और समरसता पूर्ण आनंद तक पहुंचने की प्रक्रिया पर प्रश्नचिन्ह लगाये जा सकते है। लेकिन अपने संपूर्ण प्रभाव में कामायनी हमारे युग की एक प्रतिनिधि रचना है।

–000–

राम की शक्ति पूजा

कुकुरमुत्ता

(निराला)

1. काव्यानुभूति की बनावट
   - अन्तर्विरोध
   - सौन्दर्यबोध
   - वेदना
   - कल्पना
   - राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना
2. राम की शक्ति पूजा
   - द्वन्द्वात्मक संरचना
   - एक और मन रहा राम का जो न थका
   - महाकाव्यात्मक औदात्य
   - स्थापत्य
3. कुकुरमुत्ता
   - संवेदना
   - शिल्प
   - मूल्यांकन

श्री उत्कर्ष क्लासेज (रजि०) उत्कर्ष IAS/PCS Ph. 27659480 9868486606

निराला

निराला की काव्यानुभूति की बनावट

'राम की शक्ति पूजा' और 'सरोज स्मृति' - स्वभाव से भिन्न होते हुए भी छायावादी भावबोध की कविताएं थीं। 'कुकरमुत्ता' छायावाद की परिधि से बाहर की कविता है। यह भी कहा जा सकता है कि वह छायावाद से मोहभंग की कविता है। निराला छायावाद के कवि होते हुए भी वे उसकी सीमाओं का अतिक्रमण करते हैं। वे छायावाद के भीतर ही छायावाद के एक नये मिजाज का निर्माण करते हैं।

प्रसाद से निराला की तुलना करके देखें तो प्रसाद इकहरे भावबोध के रचनाकार हैं। 'झरना' से 'कामायनी' तक प्रसाद की काव्य चेतना के विकास में एक अन्तःसूत्रता दिखाई देती है। विकास की एक विश्वसनीय और इकहरी पारदर्शिता प्रसाद में दिखाई देती है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रसाद एक उपलब्ध जीवन सत्य की पुष्टि बार-बार अपनी कविताओं के माध्यम से करना चाहते हैं।

इसके विपरीत निराला की काव्य यात्रा अन्तर्विरोधों से भरी हुई है। प्रसाद के यहां अगर कविता केवल निष्कर्ष की पुष्टि है तो निराला के यहां जैसे वह एक खोज है। निराला की कविता तलाश की कविता है। निराला की कविता की प्रकृति उस बैताल की है जो हर बार नई कहानी कहता है और नये प्रश्न पूछता है। निराला बार-बार अपने को तोड़ते हैं, अपने को बदलते हैं। यह टूट और परिवर्तन की प्रक्रिया निराला की कविता को अन्तर्विरोधों से भर देती है।

निराला की कविता अन्तर्विरोधों से युक्त होती है क्योंकि अन्तर्विरोधों से मुक्त समाज पशुओं का समाज होता है, मनुष्यों का समाज नहीं। एक तरफ निराला में यथार्थ की क्रूरतम परिस्थितियां हैं तो दूसरी तरफ उनमें आस्था और प्रार्थनए के विलक्षण स्वर भी सुनाई देते हैं।

प्रगतिवाद में यथार्थ इकहरा है इसलिए सैद्धांतिक है। यथार्थ हो या आस्था, अगर - उनमें इकहरापन है, तो वे निर्जीव होंगे। यह अन्तर्विरोध ही निराला की कविता को एक नयी पहचान और नयी

अर्थवत्ता देता है। इसलिए **प्रार्थना और यथार्थ या विद्रोह** दोनों एक साथ उनकी कविता में दिखाई देते हैं। निराला का एक प्रार्थना-गीत है :

''दलित जन पर करो करुणा,
दीनता पर उतर आए,
प्रभु तुम्हारी शक्ति अरुणा।।''

यह प्रपत्ति का भाव है।

लेकिन इसके साथ-साथ उनकी कविता में क्रांति और संघर्ष की चेतना भी सर्वत्र भी विद्यमान है। 'बादल राग' में वे लिखते हैं –

''उथल पुथल कर हृदय, मचा हलचल
चल रे चल, मेरे पागल बादल।''

पूरी तरह से उथल पुथल मचा देने का आह्वान बादल से किया गया है।

तोड़ती पत्थर कविता व्यवस्था पर प्रहार की कविता है।

'गुरु हथौड़ा हाथ
करती बार-बार प्रहार,
सामने तरुमालिका अट्टालिका प्राकार।'

निराला मानते हैं कि जो दलित हैं, पराधीन हैं, शोषित हैं उनके दुख को कोई बाहर की शक्ति दूर नहीं कर सकती। अपने जीवन के हिस्से के पत्थर को खुद तोड़ना पड़ेगा। एक पत्थर वह है जिसे वह तोड़ रही है और एक दूसरा पत्थर वह भी है जो महल के रूप में सामने है। इन दोनों पत्थरों को तोड़ना पड़ेगा। तब संभवत: जीवन की अवरुद्ध नदी बहेगी, तब जीवन शायद मुक्त हो पाएगा। इसलिए दूसरा पत्थर जो महल के रूप में है वह व्यंजित है।

दूसरा अन्तर्विरोध **पराजय-बोध एवं आस्था की दृढ़ता** के बीच है। निराला पराजय-बोध के भी कवि हैं। यह पराजय-बोध एक अमानवीय तंत्र में अपनी ईमानदारी के बोध से उत्पन्न हुआ है।

उत्कर्ष क्लासेज (रजि०) उत्कर्ष IAS Ph.2359400·IAS/PCS·9868

निराला में कई बार, कई स्तरों पर इस पराजय-बोध की ध्वनि सुनाई पड़ती है। *'हो गया व्यर्थ जीवन, मैं रण में हार गया।'* पराजय ने जीवन को व्यर्थ कर दिया है। व्यर्थता का यह बोध निराला में एक गहरे अवसाद की सृष्टि करता है। यह पराजय-बोध 'सरोज-स्मृति' में *"दुख ही जीवन की कथा रही क्या कहूँ आज जो नहीं कही"* के रूप में व्यक्त हुआ है। 'राम की शक्ति पूजा' में भी इस पराजय-बोध, अवसाद, धिक्कार-भावना को देखा जा सकता है -

"धिक् जीवन को जो पाता आया ही विरोध
धिक् साधन जिसके लिए किया ही सदा शोध
जानकी ! हाय, उद्धार प्रिया का हो न सका।"

लेकिन दूसरी तरफ इसी पराजय-बोध की काल-रात्रि के भीतर से निराला **आस्था के सूर्य का संधान** करते हैं। वस्तुतः रचनात्मकता अनास्था के कोहरे के बीच एक ज्योति की तलाश है। निराला के यहां प्रतीकों के स्तर पर एक दिशाव्यापी अंधकार है लेकिन उसके साथ एक मशाल भी है। *"है अमा निशाउगलता गगन घन अंधकार।"* जड़ता और अंधकार की शक्तियां संगठित हैं। अमावस्या की रात है। आकाश काला पड़ा हुआ है। ऐसा लगता है जैसे वह खुद अंधकार का वमन कर रहा है। दिशाएं खो गई हैं। चारों दिशाओं से चलने वाली हवाएं चुप हैं। पहाड़ ध्यान मग्न है। इस अंधकार और सन्नाटे के नेपथ्य में गरजते हुए समुद्र की आवाजें आ रही हैं - कोई दिशा नहीं, गति नहीं, प्रवाह नहीं और ऐसे में भी एक मशाल जल रही है। अंधकार का इतना विशाल साम्राज्य है लेकिन फिर भी एक मशाल है। यह मशाल उर्म्मादों की है, संभावनाओं की है, आस्था की है। निराला के यहां कविता भी, जीवन भी युद्ध की एक अंतहीन प्रक्रिया है। इस तरह निराला में पराजय-बोध है और इस गहन पराजय-बोध के साथ-साथ आस्था का स्वर भी है।

अपने गीतों में भी निराला देह की जर्जरता और गहन अकेलेपन के साथ फूलों और वसंत की चर्चा करते हैं। वे लिखते हैं - "दुखता रहता है अब जीवन, जैसे पतझड़ का वन उपवन।" वहीं निराला कह सकते हैं -. "मैं ही बसंत का अग्रदूत हूँ।" मेरी इच्छाओं की लहरों पर चढ़ कर धरती पर बसंत उतरता है। मैं चाहता हूं कि वसंत हो तो फूल खिलें।

इस तरह से निराला में अन्तर्विरोध के बहुत सारे सूत्र दिखाई पड़ेंगे। निराला के अन्तर्विरोध का मूल कारण जीवन और रचनाशीलता के बीच एक अद्वैत चेतना की अनुभूति है। निराला के यहां मात्र कला नहीं है, सिद्धान्त भी नहीं है। उनके यहां कविता का अर्थ है जीना, देखना, दूसरों तक पहुंचना। निराला जीवन पर कविता लिखना चाहते हैं और जीवन में अन्तर्विरोध हैं। निराला जीवन पर कविता लिखते हैं तो मृत्यु पर भी लिखते हैं। लेकिन मृत्यु पर जो वे कविता लिखते हैं, तो उसे जीवन में बदलने के लिए लिखते हैं। यह अन्तर्विरोध निराला की कविता का विश्वसनीयता प्रदान करता है।

प्रगतिवाद में इतने ढोल ढमाके के बावजूद, क्रांति के नारे के बावजूद, कविता कहीं पराई लगती है। लेकिन निराला की कविता आश्वस्त करती है। वह जिन्दगी से हमें परिचित कराती है, हमारी संवेदना की परिधि को विस्तृत करती है।

दूसरा पक्ष है **सौन्दर्य बोध**। निराला को सौन्दर्य का कवि भी कहा गया है। समूची छायावादी कविता, सौन्दर्य के साक्षात्कार की कविता है। लेकिन निराला के यहां सौन्दर्य की प्रकृति थोड़ी सी भिन्न है। प्रसाद के यहां सौन्दर्य एक भावमयी मधुमयता है - "तुम कनक किरन के अन्तराल में लुकछिप कर चलते हो क्यों ?" वह सुनहली किरणों की ओट में लुकछिप कर चलता है। पौन और कुहरिले प्रकाश में प्रसाद का सौन्दर्य गतिशील होता है।

निराला में सौंदर्य तनाव की फलश्रुति है। वह जीवन के दुख और संघर्ष से सामना करने की ऊर्जा है। निराला की दो प्रतिनिधि कविताओं - 'सरोज स्मृति' और 'राम की शक्ति पूजा' में सौंदर्य की चर्चा की गई है। 'सरोज स्मृति' में सबसे अधिक मृत्यु पर कविता और सौंदर्य की सर्वाधिक चर्चा है। जैसे मृत्यु की त्रासदी का सामना निराला सौन्दर्य की ऊर्जा के माध्यम से करते हैं। 'राम की शक्ति पूजा' में पराजय बोध, विफलता और संशय के क्षणों में फिर एक सौंदर्य की स्मृति जगती है - 'ऐसे **क्षण अंधकार घन में जैसे विद्युत, जागी पृथ्वी तनया कुमारिका छवि अच्युत।**' लताओं की ओट से झांकती हुई सीता की आंखें राम की स्मृति में जगती हैं।

वहां पर भी निराला ने सौन्दर्य का चित्रण किया है। **"कांपते हुए किसलय झरते पराग समुदय गाते खग नवजीवन परिचय तरु मलय वलय।"** कविता जैसे पहाड़ से उतरती है, झरती हुई,

फिसलती हुई कविता। यह सौन्दर्य रीतिकाल के कवियों की तरह नहीं है कि "चांदनी है, चिाख है चिरागन की माला है।"

निराला की सौन्दर्यानुभूति स्वाधीनता एवं श्रम से निर्मित हुई है। इसलिए उनके यहां सौन्दर्य का अर्थ स्वाधीनता और निर्भयता भी है। जहां सकर्मकता और संघर्ष नहीं है वहां सौन्दर्य भी नहीं हो सकता। निराला के यहां जहां संघर्ष है, सकर्मकता है, वहीं सौन्दर्य है। इसलिए निराला की कविता में सौन्दर्य और शक्ति का जो विधान है उसे उन्होंने अपने जीवन संघर्ष में अर्जित किया है।

तीसरा पक्ष है जो निराला की कविता में दिखाई देता है, वह है वेदना। छायावाद में दुख का एक अपना जीवनदर्शन है। इसी जीवनदर्शन से छायावाद की काव्यानुभूति नियंत्रित होती है। प्रसाद दुखके वैभव के कवि हैं। दुख का एक अपूर्व, विराट वैभव जैसे प्रसाद के यहां उपलब्ध है। महादेवी के दुख में तन्मयता है। पंत के दुख में शिशु मन और किशोरीय भाव की अपरिपक्वता है। निराला का दुख या निराला की वेदनानुभूति तीनों से अलग है, विशिष्ट है। मलयज ने निराला के दुख की प्रकृति की पहचान करते हुए कहा है कि उनके यहां दुख पहली बार सौन्दर्यानुभूति से अलग एक कठोर वास्तविकता के रूप में प्रकट हुआ है। इस दुख का निर्माण व्यवस्था की त्रिसंगतियों और एक औसत आदमी की अनवरत और ईमानदार संघर्ष के पराजयबोध से हुआ है। इसलिए इस दुख को रहस्य के कोहरे में नहीं बल्कि संघर्ष के प्रत्यक्ष प्रकाश में पहचाना जा सकता है। निराला के यहां दुख का कोई पूर्व निर्धारित ढांचा प्रगतिवादियों की तरह नहीं है। यह पूर्व निर्धारित ढांचे से बना हुआ दुख नहीं है। इस दुख में आत्मधिक्कार का भाव बहुत सघन है। यह हाड़ को तोड़ देने वाला दुख है।

निराला का दुख बेईमानी की पगडंडियों के अस्वीकार से पैदा हुआ है। निराला के यहां दुख व्यवस्थाजनित है। निराला 'राम की शक्ति पूजा' में राम के अश्रुपूरित आंखों का जिक्र करते हैं - "अन्याय जिधर है उधर शक्ति, कहते छल छल हो गये नयन, कुछ बूंद पुनः ढलके दृग जल।" किसी निजी स्मृति की वजह से राम नहीं रो रहे हैं। राम के रोने में एक विसंगति है, विडम्बना है। शक्ति को तो न्याय के पक्ष में होना चाहिए, लेकिन वह रावण के पक्ष में है। यह स्थिति राम की आंखों को छलछला देती है। निराला का दुख एक प्रतिमानवीय व्यवस्था के परिप्रेक्ष्य में ही व्याख्यायित किया

जा सकता है। प्रसाद के दुख में एकांतिकता है – "मिला कहां वह सुख जिसका मैं स्वप्न देख कर जाग गया, आलिंगन में आते-आते मुसक्या कर जो भाग गया।" एक बेहद अतृप्त प्रेम है, दुख उससे पैदा हुआ है। इसमें गहरी ऐकांतिकता है। महादेवी दार्शनिक स्तर पर पीड़ा महसूस करती है।

कल्पना निराला की काव्यानुभूति का महत्वपूर्ण प्रसंग है। छायावाद को कल्पना का काव्य कहा जाता है। पंत के अनुसार प्रत्येक सृजनात्मक और महत्वपूर्ण अनुभूति काल्पनिक होती है। जिन्दगी विविधताओं से, अनुभव से, सफलताओं-असफलताओं और बीहड़ताओं से भरी हुई एक यात्रा है। अगर इस जिंदगी का रचनात्मक रूपांतरण करना हो तो कल्पना अनिवार्य है।

छायावाद में कल्पना का कई तरह से उपयोग हुआ है। वह वर्तमान के कोलाहल के अतिक्रमण की ऊर्जा भी है। कल्पना जीने की एक [illegible] है छायावाद में। वह प्रतिमानवीय व्यवस्था में विकल्प की खोज भी है। कुछ लोगों ने इसे पलायनवाद कहा है।

निराला की कल्पना की प्रकृति अन्य छायावादी कवियों से भिन्न है। डा0 रामविलास शर्मा ने 'राग विराग' की भूमिका में लिखा है कि 'निराला का मन धरती के सौंदर्य से बंधा हुआ है और उस पर जीवन यथार्थ के गहरे दबाव हैं। इसलिए निराला की कल्पना धरती के दृढ़ आकर्षण से बंधी हुई है। उसमें जीवन की भरपूर उपस्थिति है। इसी कल्पना के आधार पर निराला धरती के सौंदर्य को, फूलों को, बादल और हवाओं को, मौसम को और जीवन के उत्सवों की पहचान कर पाते हैं। निराला के यहां कल्पना स्मृति का पर्याय है। इसी स्मृति के माध्यम से निराला भाग्य और व्यवस्था के अपराजेय चक्रव्यूह को तोड़ने की कोशिश करते हैं। निराला की कल्पनाशीलता जीवनानुभूतियों का सृजनात्मक रूपांतरण करती है। वह दूसरे लोक की खोज नहीं है। बल्कि इसी जीवन में संभावनाओं की पहचान की दृष्टि है।

निराला की काव्यचेतना में राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना का भरपूर स्वर विद्यमान है। निराला की काव्यचेतना में आत्म गौरव, जागरण, स्वाधीनता-बोध तथा राष्ट्र प्रेम का मिला जुला भाव है। निराला में जागरण भी बहुत है, रात के बीतने का बोध या कम से कम रात बीतेगी – इसका विश्वास निराला की प्राय: सभी महत्वपूर्ण कविताओं में है। 'राम की शक्ति पूजा' तो सूर्यास्त से ही शुरू होती है। 'सरोज

श्री उत्कर्ष क्लासेज (रजि०) उत्कर्ष IAS PH-76/9400-IAS/PCS-9868448806

स्मृति' को छोड़कर कोई भी ऐसी रात नहीं है जिसका सवेरा कविता के उदयाचल पर न दिखाई दिया हो। निराला अपनी कविता को उदयाचल में बदलते हैं, जहां से रोशनी की आहटें सुनी जा सकती हैं। अपनी कृति 'तुलसीदास' में निराला लिखते हैं - **"जागो जागो आया प्रभात, बीती वह बीती अंध रात।"** यह 1936 में निराला लिख रहे थे। शायद कोई उम्मीद थी। छायावाद अपनी उम्मीद की सबसे उजली लौ का इस्तेमाल करता है। 'राम की शक्ति पूजा', 'तुलसीदास' और 'कामायनी' तीनों में संभावनाओं के प्रति प्रबल आस्था है।

स्वतंत्रता सबसे प्रिय शब्द है निराला का। स्वतंत्रता उनकी रचनात्मक ऊर्जा का पर्याय है। इसलिए वे कविता को स्वाधीन करते हैं, छंद को स्वाधीन करते हैं। **'परिमल'** की भूमिका में उन्होंने कहा था कि छंद की मुक्ति का प्रश्न कविता की मुक्ति से जुड़ा हुआ है और कविता की मुक्ति में ही मनुष्य की मुक्ति निहित है। कविता की मुक्ति से उन्होंने मनुष्य की मुक्ति से जोड़ा। इसलिए अपने बहुत चर्चित प्रार्थना गीत में उन्होंने देवी सरस्वती से स्वतंत्रता के रव के विस्तार की अपील की है - **"प्रिय स्वतंत्र रव, अमृत मंत्र, नव भारत में भर दे।"**

'राम की शक्ति पूजा' द्वन्द्वात्मक संरचना "वह एक और मन रहा राम का जो न थका" यह पंक्ति राम की शक्ति पूजा की केन्द्रीय संवेदना की वाहक है। 'राम की शक्ति पूजा' का महाकाव्यात्मक औदात्य।

'राम की शक्ति पूजा' शक्ति के वास्तविक रूप के खोज की प्रक्रिया है। इस कविता में राम शक्ति युक्त होकर अवतरित नहीं हुए हैं। शक्ति यहां एक निरपेक्ष सत्ता है। इसलिए यह कविता अवतारवादी या लीलावादी अवधारण का निषेध करती है। यह कविता **तनाव और संशय** के माध्यम से विश्वासों के पुराने ढांचे में एक दरार पैदा करती है। इस दरार में 'राम की शक्ति पूजा' की आधुनिकता और सृजनात्मक मौलिकता के बीज निहित हैं।

इस कविता में कई स्थानों पर दैव की चर्चा है। दिव्य शक्ति पर विश्वास परिस्थितियों के कारण है, किसी विचारधारा के कारण नहीं। 'राम की शक्ति पूजा' एक पौराणिक घटना की पुनर्सृष्टि

नहीं है। वह समकालीन तनावों और आकांक्षाओं के संदर्भ में एक पुराने विश्वास और कथानक का रूपांतरण है।

'राम की शक्ति पूजा' का कथानक बंगाल की कृतिवास रामायण से लिया गया है। इसलिए मौलिकता कथानक में नहीं, कथानक में क्या सृजा गया, क्या कहा गया है, उसमें है।

'राम की शक्ति पूजा' शक्ति के संधान की रचनात्मक व्याख्या है। इस कविता का मूल सूत्र है **'शक्ति की करो मौलिक कल्पना।'** शक्ति का संधान मौलिक रूप से ही संभव है, अनुकरणात्मक रूप में नहीं। शक्ति के वास्तविक स्वरूप की खोज 'राम की शक्ति पूजा' की केन्द्रीय समस्या है। यह समस्या ही 'राम की शक्ति पूजा' को पौराणिकता से और मध्यकालीन विश्वासों से अलग करती है।

'राम की शक्ति पूजा' आधुनिक भाव बोध या ऐतिहासिक चेतना पर आधारित निराला और छायावाद की एक सृजनात्मक और महत्तम उपलब्धि है। इसमें शक्ति की प्रकृति की नयी व्याख्या की गई है। यहां राम प्रतीक के रूप में नहीं है, बल्कि राम ही मनुष्य है। एक राम मध्यकाल के हैं और दूसरे राम निराला के हैं ये इतिहास के दो ध्रुवों के नाम हैं।

कविता एक प्रकार से अपने समय का निष्कर्ष होती है ..... अपने समय का निचोड़ा हुआ रस है, कबीर ने एक स्थान पर कहा 'काल निचोरि के अमृत पीवै'। काल को निचोड़ करके उसमें से जो अमृत निकलता है कविता उसका भान करती है। कविता समय का निचोड़ है। इतिहास और विकास की प्रक्रिया में से कविता के अपने समय का निचोड़ है 'राम की शक्ति पूजा'।

तुलसीदास के यहां राम पूरी तरह से शक्ति सम्पन्न हैं। दूसरी तरफ 'राम की शक्ति पूजा' में **'स्थिर राघवेन्द्र को हिला रहा फिर फिर संशय।'** यहां द्वन्द्व से विचलित दिखाई पड़ रहे हैं। यह बहुत बड़ा रूपांतरण है। यह कविता समकालीन मनुष्य के सत्य और उसकी व्याख्याओं के प्रति जवाबदेह है। मध्यकाल में अगर एक निष्कम्प आस्था है तो आधुनिकता में आस्था विचलित है। जीवन और समाज की समस्याओं को अवतार के माध्यम से सुलझाया नहीं जा सकता। दरअसल प्रत्येक युग की अपनी समस्याएं होती हैं और उनके समाधान उस ढांचे में ही होते हैं। पुराने विश्वास अपर्याप्त पड़ गये हैं। इसलिए आशीर्वाद और अवतार चूंकि पर्याप्त नहीं हैं तो यह नया मूल्य है **'शक्ति'**। इस शक्ति की

श्री उत्कर्ष क्लासेज (रजि.) IAS Ph.27659200 IAS/PCS 9368448606

व्याख्या नयी जीवन परिस्थितियों में ही संभव है। 'शक्ति पूजा' में शक्ति की प्रकृति आध्यात्मिक नहीं है। हालांकि निराला पर योग साधना का प्रभाव है। शक्ति की इस प्रक्रिया को उन्होंने योग साधना के संदर्भ में गठित किया है।

'राम की शक्ति पूजा' का स्थापत्य

'राम की शक्ति पूजा' हिन्दी की सृजनात्मक कल्पनाशीलता की चरम उपलब्धि है। **भाषा, बिम्ब, छन्दों का प्रवाह** और **नाद योजना** की दृष्टि से यह कविता अभूतपूर्व कही गई है। छायावाद की जितनी भी काव्यात्मक विशेषताएं हो सकती हैं, उन सभी को अपने रचना विधान में समेटती हुई यह कविता उन्हें शिखर तक पहुंचाती है। इस कविता के स्थापत्य के अन्तर्गत जिन मुख्य बिंदुओं पर हम बातचीत करेंगे उनमें **नाटकीय विधान, बिम्ब योजना, प्रतीक विधान,** भाषा, नाद, छंद शामिल होंगे। ये 'राम की शक्ति पूजा' के स्थापत्य विश्लेषण के मुख्य बिंदु हैं।

'राम की शक्ति पूजा' **नाटकीय विधान** में संयोजित और रचित कविता है। पूरी कविता मुख्य रूप से तीन दृश्य खण्डों में विभाजित है।

पहला दृश्य है युद्ध का वर्णन और सेनाओं का लौटना। **''रवि हुआ अस्त ज्योति के पत्र पर लिखा रह गया राम रावण का अपराजेय समर।''** यहां से लेकर लौटे युग दल. राक्षस पद तल. पृथ्वी टल मल. विंध महोल्लास से बार-बार आकाश विकल' तक। युद्ध का वर्णन और सेनाओं की वापसी।

दूसरा दृश्य है - सानु सभा : **''बैठे रघुकुल मणि श्वेत शिला पर निर्मलजल।''** यहां से दूसरा दृश्य शुरू होता है। एक में युद्ध है, फिर युद्ध समाप्त है, सेनाएं सूर्यास्त होने पर अपने-अपने शिविरों में लौट गयी हैं। राम का यह निष्कर्ष है कि युद्ध हारा जा चुका है। उसमें विभीषण का कथन, जामवान का कथन है।

तीसरा और अंतिम दृश्य है **शक्ति साधना।**

दूसरे दृश्य का सबसे नाटकीय क्षण वह है जब विभीषण के लम्बे भाषण के बाद सारी सभा स्तब्ध हो जाती है। निराला ने जैसे संकेत दिया है - **'सब सभा रही स्तब्ध।'** सन्नाटा छा गया। यह

स्तब्धता मंच पर एक नाटकीय क्षण होता है। तनाव का चरम बिन्दु और फिर राम बहुत संयत स्वर में बोलते हैं। एक तरफ वक्तव्य की उग्रता है और दूसरी तरफ बहुत संतुलित अनुशासित वक्तव्य है - दो भिन्न प्रकार के मानसिक वातावरण को एक नाटकीय बिन्दु पर संयोजित किया है। दो विषम परिस्थितियों की योजना से 'राम की शक्ति पूजा' में तनाव के प्रभावकारी परिस्थितियों की योजना की गई है। यह तनाव ही 'राम की शक्ति पूजा' के नाटकीय बिन्दु हैं।

इस नाटकीयता का दूसरा पक्ष **संवाद योजना** है। पूरी कविता संवाद विधान में विन्यस्त की गई है। इसलिए 'राम की शक्ति पूजा' वर्णन की कविता नहीं है। वह संवादों के माध्यम से घटनाओं, मन:स्थितियों की अभिव्यंजना करती है। 'राम की शक्ति पूजा' के कथानक का निर्माण पात्रों के आपसी संवाद योजना के माध्यम से हुआ है जो इस कविता के नाटकीय विधान का ठोस प्रमाण है। यानी 'राम की शक्ति पूजा' कथा और विचारधारा के सूत्र के आधार पर विकसित नहीं हुई है। परिस्थितियों एवं मन:स्थितियों के माध्यम से इस कविता को बुना गया है। संवाद संबंधों की स्थितियों का नाम है। संवाद एक तरह से संबंध की अभिव्यंजना है। यह कविता संबंधों की कविता है क्योंकि संवादों की कविता है और संबंधों के भीतर से नाटकीय क्षणों की योजना संभव है। यह संवाद-योजना ही शक्ति पूजा को एक सामान्य आख्यान से अलग करती है।

उत्कर्ष दीक्षा केन्द्र (प्रा०) लि० 27 394 IAS/PCS 9868186

तीसरा बिंदु पात्रों का है। शक्ति में कई महत्वपूर्ण पात्र हैं। पात्रों के संवाद और पात्रों की अभिव्यक्ति से निराला उनकी आंतरिक स्थिति का उद्घाटन करते हैं। अभिव्यक्ति और संवाद की प्रक्रिया पात्रों की भीतरी पहचान निर्धारित करती है। शक्ति पूजा में राम सामान्य मानवीय दुर्बलताओं से युक्त होते हुए एक असाधारण स्थिति का सामना करते हैं। परिस्थिति की असाधारणता राम को विचलित करती है, भावुक बनाती है और उनके चरित्र को एक विश्वसनीय आधार देती है। 'अन्याय जिधर है उधर शक्ति'- यह एक असाधारण स्थिति है जिसका सामना मनुष्य के रूप में राम करते हैं। तुलसीदास के यहां राम में भीतरी मुस्कुराहट है क्योंकि वह एक खेल है। 'शक्ति पूजा' में परिस्थिति की प्रतिकूलता राम की भीतरी आस्था को तोड़ती है, विचलित करती है। इसलिए 'शक्ति पूजा' में राम की मन:स्थितियों का उद्घाटन अनेक स्थानों पर किया गया है। उनमें सबसे प्रभावशाली स्थल है : **'धिक् जीवन को जो पाता ही**

आया विरोध, धिक् साधन जिसके लिए किया ही सदा शोध, जानकी ! हाय, उद्धार प्रिया का हो न सका।'

समूची कविता राम के चरित्र को उनकी मन:स्थितियों के माध्यम से चित्रित करती है। विभीषण का कथन उसकी आत्मकेन्द्रित चिंता या उसके आत्मकेन्द्रित चरित्र की ओर इशारा करता है। जामवान के कथन से उनके चरित्र के अनुभवसिद्ध होने, व्यक्तित्व का धैर्य, अनुभवगम्यता और उसमें निहित वात्सल्य भाव की सामूहिक अभिव्यक्ति हुई है --**''बोले विश्वस्त कण्ठ से जामवान''** - भाषा उसी रूप में आत्मीयता लिए हुए अनुभव की सम्पदा से आवेशित है। **''रघुवर विचलित होने का नहीं देखता मैं कारण, हे पुरुष सिंह, तुम भी यह शक्ति करो धारण, आराधन का दृढ़ आराधान से दो उत्तर, तुम वरो विजय संचित प्राणों से प्राणों पर।''** इस कथन में संयम है, दृढ़ता है। और प्रेरणा का अंतिम पक्ष है **''शक्ति की करो मौलिक कल्पना, करो पूजन, छोड़ दो समर जब तक न सिद्धि हो रघुनन्दन।''** अगर रावण अधर्म के पक्ष में होते हुए भी शक्ति को अर्जित कर सकता है तो आप भी शक्ति को अर्जित कर सकते हैं।

इस तरह से 'शक्ति पूजा' अपने नाटकीय विधान में कथन एवं मन:स्थितियों के माध्यम से पात्रों के आन्तरिक वैशिष्ट्य का उद्घाटन करती है। इस प्रक्रिया में निराला ने आवेग और अन्तर्द्वन्द्व की तकनीक का प्रयोग किया है।

'शक्ति पूजा' में अद्भुत **आकस्मिकता** है। शक्ति-साधना के अन्त में आखिरी कमल चढ़ाया जाना है लेकिन वहां कमल नहीं है। फिर एक मन:स्थिति है। उस मन:स्थिति में भी द्वन्द्व है - **'धिक् जीवन को जो पाता ही आया विरोध।'** लेकिन मन में एक दूसरा विचार भी आता है **'कहती थी माता मुझे राजीव नयन।'** आप रंगमंच पर उस दृश्य की कल्पना कर सकते हैं जिसमें प्राण बिलकुल हाथ में है। संकल्पबद्ध क्षणों में दुर्गा का प्रगट होना भी एक आकस्मिक क्षण है। अत: 'शक्ति पूजा' के स्थापत्य की विशिष्टता है यह नाटकीयता।

बिम्ब निराला की सृजनात्मक ऊर्जा का एक प्रभावशाली उपकरण है जो 'राम की शक्ति पूजा' को एक उदात्त भावभूमि प्रदान करता है। 'शक्ति पूजा' की बिम्ब-योजना ने उसके प्रभाव को गहन

बनाया है। 'शक्ति पूजा' आधुनिक हिन्दी कविता में विराट बिम्बों के अभाव की पूर्ति करती है। कामायनी में भी विराट बिम्ब है लेकिन वह एक प्रबन्ध काव्य है। कामायनी में स्थापत्य के स्तर पर दोष भी बहुत हैं, उसकी बहुत सीमाएं हैं। स्थापत्य की दृष्टि से 'राम की शक्ति पूजा' को निर्दोष कविता कहा गया है और इस निर्दोषता का एक अंग है उसकी बिम्ब-योजना। युद्ध, समुद्र, भूधर, दिगंत-व्यापी अंधकार, सभी निराला की सृजनात्मक भाषा में अपनी विराटता के साथ उपस्थित होकर अद्‌भुत बिम्ब लोक की सृष्टि करते हैं। पूरी कविता एक जीवित गतिशील चित्रशाला की तरह दिखाई देती है।

'राम की शक्ति पूजा' के अधिकांश बिम्ब चाक्षुष हैं। जब कि ध्वनि बिम्बों की भी प्रभावशाली योजना है। एक चाक्षुष बिम्ब द्रष्टव्य है - **"दृढ़ जटा मुकुट हो विपर्यस्त प्रति लट से खुल, फैला पृष्ठ पर, बाहुओं पर, वक्ष पर, विपुल उतराज्यों दुर्गम पर्वत पर नैशांधकार।"**

'शक्ति पूजा' में ध्वनि बिम्बों की भी योजना की गई है। इस दृष्टि से **"फिर सुना हँस रहा अट्टहास रावण खल खल"** बिम्ब-द्रष्टव्य है। खल-खल शब्द हँसी के लिए इस्तेमाल किया गया है। बहुत दुष्ट लोग ऐसे ही हँसते हैं। इस हँसी को सुनकर राम की भावमयी आंखों से आंसू की बूंदें ढुलक पड़ती हैं। ध्वनि और नीरवता की अद्‌भुत योजना है।

1400-IAS/PCS-9868448

डा0 रामविलास शर्मा के अनुसार 'राम की शक्ति पूजा' में प्रतीकवाद का उथला रूप कहीं भी नहीं है। इस कविता में निराला ने स्थितियों और घटनाओं के माध्यम से अर्थ की बहुस्तरीय व्यंजनाएं की हैं। राम राम भी हैं, निराला भी हैं, राष्ट्रीय मन भी हैं। तो आप देखते हैं कि कविता की तीन तरह की व्याख्या की गई। इसलिए कहा जा सकता है कि यह कविता शब्दों में निहित स्थितियों की बहुआयामी व्यंजना करती है। कुछ महत्वपूर्ण व्यंजक शब्द है **अंधकार**। यह अंधकार मानसिक स्तर पर है, पराजय बोध के स्तर पर, निराशा है, युग परिवेश है, सृजनात्मक थकान है। **मशाल** उजाला है, संभावना है, जिजीविषा है, संघर्ष की चेतना है, विरोध है और वह अंतिम उम्मीद है जहां से जीने के लिए निर्णायक लड़ाई शुरू होती है। **भूधर**, राम, जड़ता, निर्विकार अस्तित्व, कई स्तरों पर अपनी व्यंजना करता है। **हनुमान का आकाश** गमन कवि की दिगंत व्यापी उड़ान का मूर्तिमान प्रतीक है। वह 'एक और राम का मन' भी है। इस तरह से 'शक्ति पूजा' परम्परागत प्रतीकों की सीमा का विस्तार करती है।

'शक्ति पूजा' की बिम्ब योजना और नाटकीयता का सारा श्रेय निराला की **बहुस्तरीय व्यंजक भाषा** को है। अर्थ गौरव की दृष्टि से निराला एक वाक्सिद्ध कवि हैं। यह कविता मुख्यत: **तत्सम बहुल सुसंस्कृत शब्दों** से निर्मित है। प्रसंग और प्रयोग के भेद से एक ही भाषा की कितनी भिन्न छायाएं हो सकती हैं, 'राम की शक्ति पूजा' इसका सर्वोत्तम उदाहरण है। उदाहरण के लिए भाषा का एक रूप **''वारित सौमित्र भल्ल पति अगणित मल्ल रोध, गर्जित प्रलयाब्धि विक्षुब्ध हनुमत केवल प्रबोध।''** 'शक्ति पूजा' का प्रारम्भ 18 पंक्तियों के एक वाक्य से होता है। इनके ठीक नीचे है 'लौटे युग दल।' यह भी एक वाक्य है 'लौटे युग दल'। **''राक्षस पद तल पृथ्वी टल मल बिंध महोल्लास से बार बार आकाश विकल।''** इन दो पंक्तियों में दो पूर्ण विराम हैं। एक तरफ भाषा जैसे पहाड़ की अमाप ऊंचाई से गिरती है, धरती को खोदती और फोड़ती हुई और दूसरी तरफ भाषा का विधान है जैसे हरसिंगार का फूल चुआ हो।

नादानुरंजित शब्दों एवं ध्वनियों का प्रयोग 'राम की शक्ति पूजा' की एक रचनात्मक विशिष्टता है। नादानुरंजित ध्वनियों एवं शब्दों का प्रचुर प्रयोग 'शक्ति पूजा' की विशिष्ट पहचान और उपलब्धि है। **''हंस रहा अट्टहास रावण खल-खल, ये अश्रु राम के मन में आते ही विचार उद्वेल हो उठा शक्ति खेल सागर अपार।''** और फिर ये पंक्तियां हैं ''शत घात घूर्णावर्त तरंग भंग उठते पहाड़, जल राशि राशि जल पर चढ़ता खाता पछाड़'' - भाषा में लहरों के उठने गिरने, टूटने बिखरने की गूंज जैसे सुनाई पड़ती है। यही परुष भाषा कोमल तरल प्रसंगों में अल्प प्राण व्यंजनों के सहारे प्रसन्न और श्रुति मधुर हो जाती है। उदाहरण के लिए **''कांपते हुए किसलय झरते पराग समुदय गाते खग नवजीवन परिचय तरु मलय वलय।''** इस तरह से पूरी भाषा की अनेक छवियां हैं जो इस कविता को एक अपूर्व गरिमा से सम्पन्न करती है।

निराला **मुक्त छंद** के कवि हैं। छंद को उन्होंने कविता का बंधन कहा था। इसलिए 'परिमल' की भूमिका में उन्होंने लिखा था कि छंद की मुक्ति में ही कविता की मुक्ति है और कविता की मुक्ति में ही मनुष्य की मुक्ति है। इसलिए छंद की मुक्ति का संबंध मानवीय स्वाधीनता से जुड़ा हुआ है। चूंकि निराला मुक्त छंद के प्रवर्तक हैं इसलिए उनके छंदों को कोई पारम्परिक संज्ञा नहीं दी जा सकती।

'राम की शक्ति पूजा' के छंद को शक्ति छंद कहा जाता है। इसमें छंद के प्रवाह के साथ गद्य का ठहराव है। 'आ' के प्रयोग के द्वारा समय की दीर्घता को दिखाया गया है : 'राघव लाघव रावण वारण गत युग्म प्रहर।' 'राम की शक्ति पूजा' में अनेक स्थानों पर छंदों का प्रयोग भाषा का प्रश्न नहीं बल्कि स्थितियों की अभिव्यंजना का प्रश्न है। 'राम की शक्ति पूजा' की छंद-योजना प्रवाह के साथ साथ स्थितियों और मनःस्थितियों की सूचना भी देती है।

कुछ विद्वानों का कहना है कि 'राम की शक्ति पूजा' अपने स्थापत्य की विशिष्टता के कारण महाकाव्य की गरिमा को स्पर्श करती है। 'राम की शक्ति पूजा' का स्थापत्य महाकाव्य का है। एक बात निश्चित है कि 'शक्ति पूजा' का रूप विधान परम्परागत प्रबन्ध रचनाओं की तरह नहीं है। वह एक लम्बी कविता है जिसमें स्थितियों, घटनाओं, मनःस्थितियों का एक संगुम्फित संसार है और उसमें एक गीतात्मक आवेग है और आत्माभिव्यक्ति की विश्वसनीयता है। प्रबंध और गीतात्मकता के अनूठे संतुलन ने 'राम की शक्ति पूजा' को एक अभिनव काव्य रूप प्रदान किया है। रचनात्मक औदात्य के कारण जहां इसमें महाकाव्य की गरिमा दिखाई देती है तो दूसरी तरफ वैयक्तिक संस्पर्श इस कविता को एक गीतात्मक आयाम देता है। यह कविता महाकाव्यात्मकता और गीतात्मकता को एक संतुलित बिंदु पर आत्मसात करती है।

जहां तक 'शक्ति पूजा' के महाकाव्यात्मक होने का प्रश्न है इसमें संदेह नहीं है कि इस कविता का रचनात्मक औदात्य है : भाषा की दीप्ति, बिम्बों की विराटता और प्रतीकों की युग व्याप्ति - ये इसे एक महाकाव्यात्मक आयाम देते हैं। लेकिन निराला इस रचना में राम के वैयक्तिक मन के विभिन्न पक्षों की मर्मस्पर्शी अभिव्यक्ति भी देते हैं। इसलिए यह कहा जा सकता है कि एक महाकाव्यात्मक औदात्य से युक्त होती हुई यह कविता एक गीतात्मक प्रभव की सृष्टि करती हैं।

कुकुरमुत्ता

निराला एक प्रयोगधर्मी कवि हैं। इस प्रयोगधर्मिता के कारण इस कविता की अन्तर्वस्तु और रूप में अपार विविधता दिखाई देती है। आचार्य शुक्ल ने अपने हिंदी साहित्य के इतिहास में निराला को बहुवस्तुस्पर्शिनी प्रतिभा संपन्न कहा है। निराला की रचनात्मकता की बहुआयामिता की ओर संकेत दिया है।

कुकुरमुत्ता निराला की प्रयोगधर्मी काव्यचेतना की बहुआयामिता का प्रमाण है। यह कविता सन् 1941 में प्रकाशित हुई थी। 'राम की शक्ति पूजा' के बाद निराला की यह पहली लंबी कविता है।

प्रभाकर माचवे ने कुकुरमुत्ता को निराला काव्य में नये **मोड़** का प्रमाण कहा है। यह कविता निराला की एक नयी काव्य चेतना का प्रस्थान बिंदु है। कुकुरमुत्ता से निराला की काव्यधारा मुड़ी . . .। यह परिवर्तन कविता की अन्तर्वस्तु व भाषा दोनों स्तरों पर दिखाई देता है। स्वयं निराला ने इस कविता को शक्तिपूजा व तुलसीदास जैसी कविताओं के समकक्ष माना है। यह कविता एक तरफ लगभग शक्तिपूजा के आकार की कविता है तो दूसरी तरफ कथात्मक भी है। शक्तिपूजा व कुकुरमुत्ता में ध्रुवीय अंतर है। शक्ति पूजा में उदात्त के स्तर पर चलने वाला पौराणिक आख्यान है वहीं कुकुरमुत्ता इस औदात्य को भंग करने वाला एक कल्पित आख्यान है जिसमें किसी प्रकार की जटिलता नहीं है।

विन्यास : कुकुरमुत्ता दो खंडों में विभाजित है। पहले खंड में एक नवाब के बाग का वर्णन है चित्र विधान की सजीवता की दृष्टि से यह अंश निराला की काव्य चेतना को प्रमाणित करता है। इस बाग में गुलाब भी है और उसी में बनी हुई नकली पहाड़ी पर उगा हुआ डेढ़ बीते का कुकुरमुत्ता भी। वह खिले हुए गुलाब को देखता है, ऐंठ कर उसे भला-बुरा कहना शुरू करता है।

कुकुरमुत्ता का विन्यास कल्पित आख्यान है। दूसरे अंश में नवाब की लड़की तथा नवाब के बागीचे में काम करने वाले माली की लड़की है। यह माली की लड़की कुकुरमुत्ते की सब्जी बनाती है तथा उस सब्जी को माली के घर नवाब की बेटी खाती है। सब्जी स्वादिष्ट लगने पर नवाब की लड़की नवाब से इसकी चर्चा करती है। तब नवाब माली को बुलाकर कुकुरमुत्ता उगाने के लिए कहता है। कविता माली के उत्तर से समाप्त होती है कि जनाब माफ करें कुकुरमुत्ता उगाने से नहीं उगता।

आलोचना : कुकुरमुत्ता को लेकर हिन्दी आलोचना में पर्याप्त मतभेद हैं। अन्तर्वस्तु एवं कथ्य को लेकर अनेक प्रकार के विचार विश्लेषण हिन्दी आलोचना में विद्यमान हैं। इस कविता को लेकर मुख्यत: तीन तरह की विचार पद्धतियाँ हैं।

पहली विचार पद्धति के अनुसार कुकुरमुत्ता छायावादी सौन्दर्यानुभूति (सौन्दर्याभिरूचि का अतिक्रमण) की कविता है। भाषा व कथ्य दोनों स्तरों पर यह कविता छायावादी कविता के औदात्य और

महानता का अतिक्रमण करती है। कुकुरमुत्ता निराला की काव्यचेतना को एक नया आयाम व अर्थ देता है। यह अतिक्रमण की कविता है। छायावादी कविता भाववादी कविता है इसलिए यह काव्यचेतना शाश्वतवादी है। छायावाद में शाश्वतता, सार्वभौतिकता का आग्रह बहुत अधिक है। कुकुरमुत्ता छायावाद की सार्वभौमिक, शाश्वत दृष्टि को अतिक्रमित करता है। इसलिए यह कहा गया है कि 'कुकुरमुत्ता निराला की वर्ग चेतना की कविता है। शाश्वतता, सार्वभौमिकता को हटाकर निराला में उत्पन्न वर्ग बोध की चेतना की कविता है। यह कविता वर्गीय विषमता के सत्य के उद्घाटन की कविता है। आचार्य नंद दुलारे वाजपेयी के अनुसार गुलाब सामंती सभ्यता का तथा कुकुरमुत्ता सर्वहारा का प्रतीक है। इसमें सामंतवादी प्रतीक गुलाब के उपहास के साथ कुकुरमुत्ता की प्रशंसा की गयी है। इस आधार पर कुछ आलोचक इसे प्रगतिवादी कविता मानते हैं।

दूसरी व्याख्या के अनुसार कुकुरमुत्ता के माध्यम से निराला लुम्पेन प्रगतिशीलता पर व्यंग्य करते हैं। इस कविता में जो कुकुरमुत्ता है वह प्रगतिशील पूंजी का प्रतिनिधित्व करता है। इन व्याख्याकारों का नेतृत्व डा0 रामविलास शर्मा करते हैं। इनके अनुसार समाज को बदलने के लिए संगठन चाहिए, वक्तव्य नहीं। डा0 शर्मा ने कुकुरमुत्ता के बड़बोलेपन के आधार पर उसे लुम्पेन कहा है।

तीसरी धारा के अनुसार कुकुरमुत्ता समूची मार्क्सवादी आलोचना पर व्यंग्य है।

0 0 0 0

कुकुरमुत्ता का समूचा विन्यास निश्चित रूप से वर्ग चेतना पर आधारित है। कुकुरमुत्ता के दोनों भागों में दो तरह के संसार हैं। इन संसारों को स्वर्ग और नरक के रूप में चिन्हित किया जा सकता है। कुकुरमुत्ता के पहले भाग के आरंभ तथा दूसरे भाग के आरंभ को समानान्तर रख देने पर उसकी अन्तर्योजना के अभिप्राय को समझा जा सकता है। दोनों आरंभ टकराकर विषमता का उद्घाटन करते हैं।

इस कविता में दो प्रकार की दुनिया है। जीवन के दो स्तर अपने वैपरीत्य के साथ मौजूद हैं। निराला कुकुरमुत्ता में दोनों दुनियाओं के संबंधों को खोजने की कोशिश करते हैं। नवाब का स्वर्ग साधारण के नर्क पर खड़ा हुआ है। निराला इस कविता में संकेत करते हैं कि एक मुट्ठी लोग धरती

श्री उत्कर्ष क्लासेज (रजि०) IAS 27539400 IAS/PCS 9868448655

पर स्वर्ग का आनंद उठा सकें इसके लिए असंख्य लोगों को कीड़ों, चमगादड़ों की तरह जीना पड़ता है। निराला इस विडंबना को संकेतित करते हैं कि नवाब का स्वर्ग साधारण आदमी के नर्क से जीवित है।

कुकुरमुत्ता में निराला छायावाद के स्वर्ग से निकलकर मनुष्य की जिंदगी के धरातल पर आते हैं। भावनाओं पर रहने वाली कविता की निगाह धरती पर नहीं आती है। कुकुरमुत्ता धरती पर रहने वाले औसत मनुष्य और इन मनुष्यों का शोषण करने वाली व्यवस्था की कविता है। जीवन स्थितियों की विषमता के माध्यम से निराला ने इस कविता में वर्ग विषमता के सूक्ष्म को उद्घाटित किया है। इस दृष्टि से कुकुरमुत्ता निश्चित रूप से काव्यानुभूति में घटित हुए परिवर्तन की कविता है।

यह निश्चित है कि इस कविता के विधान में गुलाब सामंती सभ्यता का प्रतीक एवं कुकुरमुत्ता सर्वहारा का प्रतीक है। मार्क्सवादी आलोचकों ने कुकुरमुत्ता को वर्ग संघर्ष की कविता माना है। निराला के विशेषज्ञ तथा निराला को हिन्दी कविता में स्थापित करने वाले आलोचक डा0 रामविलास शर्मा ने कुकुरमुत्ता के संबंध में लिखा कि "कुकुरमुत्ता ने गुलाब को कैपिटलिस्ट कहा, उसे अमीरों का प्यारा बताया, उस पर साधारण जनों से अलग रहने का आरोप लगाया इससे कुछ प्रगति प्रेमी आलोचकों ने उसे सर्वहारा का प्रतिनिधि मानकर उसका काफी वंदन-अभिनंदन किया है।" चूंकि कुकुरमुत्ता ने गुलाब को कैपिटलिस्ट कहा है, साधारण वर्ग से अलग रहने वाले के रूप में संबोधित किया है। डा0 शर्मा के अनुसार कुकुरमुत्ता की तर्कयोजना जिस वर्ग दृष्टि का परिचय देती है वह प्रोलिटेरियट ही नहीं लुम्पेन प्रोलिटेरियेट (Loompen Proletereate) की वर्ग दृष्टि है। शहर के आवारा टूटपूंजियों का दृष्टिकोण, जो क्रांतिकारी संगठन का रास्ता छोड़कर अराजकतावादी नीति अपनाता है। डा0 शर्मा ने प्रकारान्तर से कुकुरमुत्ता को निराला का ही प्रतीक बना दिया है। इसलिए उन्होंने कुकुरमुत्ता के विद्रोह को स्वयं निराला का विद्रोह कहा है और इस विद्रोह का विशेषण लगा दिया है - बचकाना विद्रोह। यानी कुकुरमुत्ता निराला के बचकाने विद्रोह चेतना का प्रतीक है। उनके अनुसार कुकुरमुत्ता में वक्तृत्व कला है, पुरानी आस्थाओं पर व्यंग्य है। लेकिन व्यंग्य की कमजोरी यह है कि जिन मान्यताओं को निराला ने हास्यास्पद बनाया है उनका सही मूल्यांकन नहीं किया क्योंकि सफल व्यंग्य सामाजिक जीवन व संस्कृति के अन्तर्विरोधों की सही पहचान से संभव होता है। इसीलिए कुकुरमुत्ता में क्रांतिकारी चेतना नहीं बचकाना विद्रोह दर्शन बहुत अधिक है।

कुकुरमुत्ता की तर्कयोजना कुछ आवारा टूटपूंजियों की योजना न होकर पूरे प्रगतिशील आंदोलन की तर्कयोजना है एवं कुकुरमुत्ता जिस वर्ग दृष्टि का इजहार करता है वह सिर्फ लुम्पेन प्रोलिटेरियेट की दृष्टि न होकर पूरे प्रगतिवादी आंदोलन की वर्ग दृष्टि है।

कविता के आरंभ में कुकुरमुत्ता गुलाब को देखता है और ऐंठकर उसे भला बुरा कहना शुरू करता है।

इस तरह निराला ने कुकुरमुत्ता को प्रचलित कम्यूनिस्टों व सर्वहारा का प्रतिनिधि बनाया है। इसलिए कम्यूनिस्ट या सर्वहारा के प्रतिनिधि के रूप में गुलाब के सौंदर्य, उसके रंग, उसकी खुशबू को देखता है। आम कम्यूनिस्टों की भाषा में जो भी कठोर शब्द मौजूद थे उन सभी शब्दों को गुलाब पर उड़ेल देता है। खून चूसने वाला कैपिटलिस्ट, गुलामों पर जुल्म ढाने वाला, औरतों का प्रेमी, अय्याश पसंद, बादशाहों का दुलारा, साधारण जन से कटा हुआ, पूरजीवी, कमीना, सुविधाभोगी, पाजी। गुलाब का यह चरित्र एक सर्वहारा द्वारा गढ़ा हुआ है। गुलाब के प्रति जो दृष्टि कुकुरमुत्ता की है वही परंपरा के प्रति कम्यूनिस्टों की है। परम्परा द्वारा स्थापित जो भी शिष्ट या सामाजिक है कम्यूनिस्ट उसके विरोधी थे। इसलिए पारम्परिक चला आ रहा जो कुछ सुंदर, सुरूचिपूर्ण था उसके कम्यूनिस्ट विरोधी थे। कुकुरमुत्ते के बड़बोलेपन में कम्यूनिस्टों की तर्कयोजना दिखती है। गुलाब के प्रति कुकुरमुत्ते का जो दृष्टिकोण है, जैसा वह वक्तव्य देता है, जैसी उसकी पूरी तर्कयोजना है वह कट्टर मार्क्सवादियों की है। निराला ने इस कट्टरता पर व्यंग्य किया है। कुकुरमुत्ता की जो दृष्टि है वह पूर्णत: उपयोगितावाद पर है।

उस जमाने में गेहूँ और गुलाब के प्रतीकों पर रचनात्मक लड़ाई चल रही थी। साहित्य को मनुष्य की जरूरतों पर ध्यान देना चाहिए न कि उसके सौंदर्य पर। निराला ने प्रगतिवादी विचारधारा की उपयोगितावादी दृष्टि पर व्यंग्य किया है। केवल उपयोगितावाद जीवन को पूर्णता नहीं देता है। सौंदर्य और उपयोगिता में संतुलन होना चाहिए। इस संतुलन का निषेध मार्क्सवादी विचारधारा में है। यह कविता संतुलन निषेध की कविता है।

गुलाब को ध्वस्त करने के बाद कुकुरमुत्ता अपने गौरव का बखान करता है। पहला खंड कुकुरमुत्ता के गौरव का ही विस्तृत आख्यान है जो वह स्वयं कर रहा है। वह गुलाब से कहता है कि

जहां तुम दूसरों के श्रम पर पलते बढ़ते हो वहां मैं स्वयं उगता हूं। तुम पानी के बुलबुले की तरह मिट जाओगे। जो दूसरों के श्रम के शोषण पर फलते-फूलते हैं वे एक दिन इतिहास की करवट में दब जाते हैं। कुकुरमुत्ता गुलाब से कहता है कि तुमने इस संसार को नष्ट किया है, मैंने तरक्की की राह दिखाई है, तुमने श्रमिकों का शोषण कर रोटी छीन ली है, मैंने उन्हें उनकी शक्ति का ज्ञान कराकर एक के बदले तीन रोटी देकर उन्हें समृद्धि प्रदान की है। कुकुरमुत्ता स्वयं को तथा गुलाब को दो सत्ता प्रतीकों के रूप में विकसित करता है : पूंजीपति, सामंती तथा सर्वहारा। दुनिया में सभी गोल वस्तुओं में उसकी उपस्थिति है - चीन का छाता, भारत का छत्र, विष्णु का चक्र, मैं मैट्रोपोलिटन, कॉस्मोपालिटन दोनों हूं, मैं दोहरा होकर डमरू हो जाता हूं, इकहरा होकर वीणा हो जाता हूं। यह कविता बुनियादी स्तर पर वर्णन की स्फीति की कविता है। कुकुरमुत्ता कहता है मैं वहां भी हूं जहां शासक टकराते हैं। वहां पैंतरा बदलता हूं। मैं मियां-बीवी के झगड़े में भी विद्यमान हूं।

कविता का पूरा अंश **आत्मश्लाघा या आत्मप्रशंसा का वृहत विस्तार** है। लगभग अपने को ब्रह्म के रूप में प्रस्तुत करता है। कुकुरमुत्ता ब्रह्म की व्यापकता से अपने को जोड़ लेता है। कुछ आलोचकों ने कहा है कि यह कुकुरमुत्ता का अनर्गल प्रलाप है। जिसके चरित्र में गहराई नहीं होती, विचारों की गरिमा नहीं होती वे ऐसा ही प्रलाप करते हैं।

नंद किशोर नवल ने कहा है कि कुकुरमुत्ता का यह विस्तृत संवाद अनर्गल प्रलाप नहीं है उसमें एक क्रम है, एक सोची समझी विचारधारा है। यह विचारधारा ही सर्वहारा की सबसे बड़ी शक्ति है। वही संपूर्ण सभ्यता, संस्कृति का जनक है। वह अनश्वर है, ब्रह्म की तरह सर्वव्यापी है। सर्वहारा की शक्ति और इतिहास में उसकी भूमिका से निराला अवगत थे। लेकिन भारतीय समाज में जिस निषेधवादी, अतिवादी, अतिसरलीकृत रूप को प्रचारित किया जा रहा था उससे उन्हें इन्कार था। इसलिए व्यंग्य के माध्यम से निराला ने कुकुरमुत्ता को सर्वहारा का प्रतीक बताकर उसे उपहासास्पद स्थिति में पहुंचा दिया है। इस कविता में निराला ने जो कुछ सुंदर, सुरूचिपूर्ण, सुसंस्कृत है उसके लिए गुलाब को चुना।

यह कविता वर्ग विषमता को स्वीकार करती है। कुकुरमुत्ता कम्यूनिस्ट विचारधारा से अधिक कम्यूनिस्ट चरित्र का प्रतिनिधित्व करता है। कुकुरमुत्ता के माध्यम से उसकी शक्ति व व्यापकता का

प्रदर्शन करने के लिए उन्होंने अपनी जिस कल्पना शक्ति का उपयोग किया है वह असाधारण है। यह शक्तिपूजा के कवि का भिन्न प्रकार का शक्ति प्रदर्शन है।

यह उदात्त विरोधी कविता है। इस कविता का विश्लेषण निराला की जीवन दृष्टि के संदर्भ में होना चाहिए। निराला की काव्य चेतना अन्तर्विरोध से निर्मित है। उनकी काव्य चेतना के एक छोर पर सांस्कृतिक औदात्य है, भाववाद है और इसीलिए उनकी कविता इस देश की सांस्कृतिक परंपरा व जातीय विशेषताओं को प्रस्तुत करती है। शक्ति पूजा परंपरा की स्मृति व वर्तमानबोध की टकराहट की कविता है। यह कविता परंपरा को एक विशेष बिंदु पर तोड़ देती है जिसके भीतर से आधुनिकता का अंकुर फूटता है। दरअसल परंपरा को इतिहास विवेक से ठीक जगह से तोड़कर ही उसका सर्जनात्मक विकास किया जा सकता है। शक्तिपूजा में निराला परंपरा का विकास करते हैं, अनुकरण नहीं करते। अनुकरण से परंपरा रूढ़ि में परिवर्तित हो जाती है। इसलिए परंपरा के साथ विचार और विवेक का संबंध बनाकर ही उसे नयी गति, नयी दिशा दी जा सकती है। शक्तिपूजा में निराला परंपरा का विकास करते हैं। परंपरा के उज्ज्वल पक्ष को निराला अपना काव्याधार बनाते हैं। इसलिए राम केवल पौराणिक पात्र नहीं हैं बल्कि वे भारतीय संस्कृति के उदात्त मूल्यों के प्रतिनिधि भी हैं।

निराला की काव्य चेतना के दूसरे छोर पर एक यथार्थवादी संसार है। बेहद जटिल, अनर्थ क्षुद्रताओं से भरे हुए इस संसार में नैतिकता, मूल्यों के आधार पर जीने वाला व्यक्ति पराजित होने के लिए अभिशप्त है। इसके संकेत निराला ने कई जगह दिए हैं।

जो पतन से समझौता नहीं करता वह जिन्दगी भर हारता है, जख्मी होता है। निराला का जीवन जख्मों से भरा हुआ है। मुक्तिबोध ने कहा है कि भारत की सामाजिक आर्थिक संरचना में ईमानदार रहकर परिवार के आधारभूत भरणपोषण के लिए ही संघर्ष कर सकते हैं।

कुकुरमुत्ता के माध्यम से निराला अपने भाववादी संघर्ष से निकलते हैं। कुकुरमुत्ता निराला के यथार्थबोध की कविता है। इस कविता की समग्र व्याख्या में दो पात्र हैं स्वयं रचयिता और भाषण करने वाला कम्यूनिस्ट। रचनाकार के अभिप्राय के स्तर पर यह कविता वर्ग विषमता की विडंबनाओं को व्यंजित करती है। इस वर्ग विषमता पर आधारित समाज में कम्यूनिस्ट हैं जिनके यहां आचरण के

नाम पर सिर्फ शब्द हैं। आचरणविहीन क्रांतिकारिता के खोखलेपन को निराला कुकुरमुत्ता के माध्यम से उद्घाटित करते हैं।

भाषिक विधान

कुकुरमुत्ता का शिल्प निराला के नये यथार्थबोध से निर्मित हुआ है। इस नये यथार्थबोध की अभिव्यक्ति के लिए निराला ने कविता की भाषा और जीवन की भाषा के संबधों के आधार को बदल दिया है। शक्ति पूजा भाषा के सांस्कृतिक औदात्य की कविता है। एक ऐसी भाषा जिसमें इस देश की सांस्कृतिक स्मृति और गरिमा विद्यमान है। पूरी कविता शुरू से अन्त तक एक विलक्षण दिव्यता में तनी हुई दिखाई देती है। नाटकीयता, उदात्त कल्पना एवं स्मृति का असाधारण सर्जनात्मक प्रयोग शक्ति पूजा में दिखाई देता है। इसलिए शिल्प की दृष्टि से शक्ति पूजा आधुनिक हिन्दी कविता की एक ऐतिहासिक उपलब्धि है। यद्यपि प्रारंभ में शक्ति पूजा की भाषा पर कई प्रतिकूल टिप्पणियां की गयीं। रामनरेश त्रिपाठी ने कहा कि यह कविता नहीं सांप झाड़ने का मंत्र है। निराला के सबसे बड़े प्रशंसक एवं छायावाद को हिन्दी कविता में स्थापित करने वाले आलोचक नन्ददुलारे वाजपेयी ने कहा कि शक्ति पूजा एक प्रयोग है और इसकी भाषा को सिर्फ इस आधार पर ही उचित ठहराया जा सकता है कि हिन्दी में ऐसी कविता और ऐसी भाषा लिखी जा सकती है। "राम की शक्ति पूजा की आरंभ की पंक्तियों की भाषा की ऐसी कवायद है जिसका समर्थन केवल यह कहकर किया जा सकता है कि हिन्दी में भी ऐसी भाषा लिखी जा सकती है।" लेकिन बाद में शक्ति पूजा का कद बढ़ा। शक्ति पूजा का स्थापत्य छायावादी हिन्दी कविता की ताकत को प्रदर्शित करता है। इसलिए राम विलास शर्मा ने इस कविता के आधार पर निराला को हिन्दी का मिल्टन कहा है।

दूसरी तरफ कुकुरमुत्ता की जो भाषा है, उसका स्थापत्य है, उसमें एक सुविचारित, आभिजात्य-विरोध चरित्र दिखाई पड़ता है। इस कविता की समूची रचना योजना में आभिजात्य विरोधी पैटर्न का दबाव है। इसलिए शक्तिपूजा की भाषा से भिन्न एक नये तरह की भाषा का प्रयोग कुकुरमुत्ता में किया गया है।

नन्ददुलारे वाजपेयी के अनुसार जो भाषा निराला जी ने कुकुरमुत्ता में प्रयोग की है वह हिन्दी उर्दू के मेलजोल से बनी है। जहां शक्ति पूजा में एक भी उर्दू शब्द नही है. कुकुरमुत्ता में हिन्दी उर्दू शब्दों का अनुपात लगभग पैंतालीस-पचपन का है। बोलचाल की भाषा के साथ नये मुहावरे उसमें बड़ी संख्या में व्यवहृत हुए हैं। यह एक बड़ा परिवर्तन है। भाषा की सजीवता, मुहावरे का प्रयोग गहरी लोक संपृक्ति पर निर्भर करता है।

छायावादी काल में प्रायः लोक प्रचलित मुहावरों का प्रयोग नहीं होता था। इससे भाषा स्थापत्य में एक गंभीरता तो उत्पन्न हुई है लेकिन उसमें सहज तरलता, संप्रेषणीयता नहीं है। कुकुरमुत्ता की भाषा सहज, तरल, संप्रेषणीय भाषा है। एक ऐसी भाषा जो जीवन का अनुवाद नहीं करती बल्कि जीवन में प्रयुक्त होने वाली भाषा और भाषिक भंगिमा दोनों हैं।

राम की शक्तिपूजा व छायावादी भाषा के स्थान पर बोलचाल की भाषा, भाषा भंगिमा कुकुरमुत्ता के भाषिक विधान की खासियत है।

कुकुरमुत्ता की चरित्र योजना शक्तिपूजा के विपरीत है। शक्तिपूजा के चरित्र में मनुष्य होने की गरिमा, धैर्य एवं भाषा की सुसंस्कृति है। राम की शक्तिपूजा के राम आदमी के स्वप्न में आदमी होने की कविता है। इसके विपरीत कुकुरमुत्ता एक औसत मनुष्य की क्षुद्रता के स्वीकार की कविता है। यह साधारण मनुष्य की क्षुद्रता के स्वीकार की कविता है। कुकुरमुत्ता सभी प्रकार के अभिजात्यों से मुक्त है।

क्या अंततः निराला कविता को जीवन की साधारणता के हवाले करते हैं ? साधारण जीवन की उपस्थिति कविता के भूगोल में होनी चाहिए। इसलिए राम के समानान्तर उन्होंने कुकुरमुत्ता को भी नायकत्व का अवसर दिया है। क्षुद्रता, अभिजात्यता की समानान्तर उपस्थिति से बनी हुई है दुनिया।

निराला का काव्य संसार कुकुरमुत्ता और राम की शक्तिपूजा के माध्यम से इस दुनिया का रूपक रचते हैं। केवल महानता या केवल क्षुद्रतायें नहीं हैं बल्कि दोनों उपस्थिति हैं। विपरीतों से दुनिया का पूरा चेहरा तैयार होता है। दोनों कविताओं के माध्यम से निराला जीवन का समूचा चित्र गढ़ते हैं।

मूल्यांकन :

कुकुरमुत्ता को निराला की काव्य चेतना का विकास माना जाय या पतन ? अधिकांश कवि आलोचकों ने कुकुरमुत्ता को निराला की काव्य चेतना का ह्रास माना है। **शमशेर बहादुर सिंह** ने कहा कि यह किसी काम की कविता नहीं है। **केदार नाथ सिंह** ने कहा कि कुकुरमुत्ता निराला की विक्षिप्तता का प्रमाण है। **महादेवी** ने 'अपरा' नाम से निराला की कविताओं का संकलन किया जिसमें कुकुरमुत्ता को नहीं शामिल किया और कहा कि मैं इसे कविता नहीं मानती। शक्तिपूजा का रचनाकार यदि कुकुरमुत्ता लिख रहा हो तो इसे पतन के सिवाय क्या कहा जा सकता है।

मार्क्सवादी आलोचकों ने इस कविता को राम की शक्तिपूजा का विकास माना है। उनके अनुसार यह कविता स्थापत्य, भाषा, अन्तर्वस्तु के आधार पर हिन्दी कविता का नया प्रस्थान बिन्दु है। कुकुरमुत्ता कविता के प्रदेश में जीवन की साधारणता को नागरिकता देने के पक्ष में है।

निराला की काव्य यात्रा में राम की शक्तिपूजा और कुकुरमुत्ता का संबंध शिखर और खाई का है। दोनों अनिवार्यतः पड़ोस में हैं। दोनों का अस्तित्व अनिवार्यतः एक दूसरे पर निर्भर है। कुकुरमुत्ता शक्तिपूजा का विपरीत रचती है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि यह कविता अपने अभिप्राय में कवि की काव्यानुभूति के आकाश को विस्तार भी देती है। हिन्दी आलोचना में इस कविता को लेकर अनेक स्तरों पर बहसें हैं। इसमें संदेह नहीं है कि यह कविता अन्तर्वस्तु एवं स्थापत्य के धरातल पर निराला की कविता में आये हुए मोड़ को प्रदर्शित करती है।

जड़ चेतन गुण दोष मय विश्व कीन्ह करतार।
संत हंस गुन गहहिं पय परिहरि वारि विकार।।

'राम की शक्तिपूजा' के बाद 'कुकुरमुत्ता' का प्रकाशन निराला की काव्ययात्रा के दूसरे पड़ाव की ओर सूचित करता है। 'राम की शक्तिपूजा' सपने की कविता है तो कुकुरमुत्ता सपने से यथार्थ में लौटने की कविता है। कुछ आलोचकों का मानना है कि कुकुरमुत्ता की भाषा के माध्यम से निराला अपनी भाषा के घर में वापस लौटते हैं। 'राम की शक्तिपूजा' की भाषा वस्तुतः औदात्य के शिखर की

भाषा है, सांस्कृतिक गरिमा, कल्पना की उड़ान तथा आदर्शों की महिमा की भाषा है। चूंकि बहुत दिन तक शिखर पर नहीं रहा जा सकता, अत: कुकुरमुत्ता में निराला अपनी भाषा के घर में लौटते है।।

कुकुरमुत्ता को किसी कालबद्ध प्रवृति के रूप में नहीं देखा जा सकता। निराला का रचनाकाल 1922 से 1961 तक फैला है। निराला के काल की सभी प्रवृतियां एक-दूसरे में संक्रमित होती दिखाई देती हैं। निराला ने छायावाद के सबसे सघन काल में 'विधवा' और 'भिक्षुक' कविताएं लिखीं। अत: कुकुरमुत्ता को निराला की काव्य चेतना के एक अखंड प्रसंग के रूप में देखने की जरूरत है। 1942 में कुकुरमुत्ता का प्रकाशन एक काव्य संग्रह के रूप में हुआ जिसमें प्रेम संगीत, रानी कानी, मास्को डायलग्स, गरम पकौड़ी, खजुहरा, स्फटिकशिला आदि कविताएं संकलित हैं। इस संग्रह की कविताओं में स्पष्ट है कि निराला सभी प्रकार की महानताओं, संस्कृति, औदात्य, उच्चता का परित्याग करते हैं। डा0 रामविलास शर्मा ने इस संग्रह की कविताओं को निराला के मोहभंग तथा मानसिक विकृति से जोड़कर देखा है।

निराला की औसत काव्य-चेतना सांस्कृतिक विमर्श की है, जिसमें राष्ट्र-प्रेम, संस्कृति, सौन्दर्य-बोध, सपने - सब एक साथ दिखते हैं। निराला की कविता सौन्दर्य, संस्कृति, सपनों तथा कल्पना का एक विलक्षण संसार निर्मित करती है। उनकी कविता में फूल, उसका गंध तथा रंग है। निराला की काव्य-रचना की एक विशेषता है कि वह कल्पना के माध्यम से वनस्पति के भीतर फूटती चेतना तथा उसके सौन्दर्य को उद्घाटित करते हैं। निराला की प्रिय ऋतु बसंत है। बेला तथा जूही उनके प्रिय फूल हैं। लेकिन कुकुरमुत्ता में आकर निराला अपनी पूरी परंपरा तथा सारे औदात्य, सपने तथा आदर्शों को दृढ़तापूर्वक एवं सयास ढंग से तोड़ते हैं। अत: कुकुरमुत्ता तथा उसमें संग्रहित कविताएं कविता के सांस्कृतिक सौन्दर्यात्मक संदर्भों का परित्याग करती है। अत: इन कविताओं को संस्कृति, परम्परा तथा औदात्य के विरोध में देखने की जरूरत है।

कुकुरमुत्ता को पढ़कर यह सवाल उठता है कि क्या संस्कृत की परम्परा की दुनिया को छोड़कर भी कविता रह सकती है ? यह रचना के माध्यम से रचना-विरोधी कविता है। निराला इस संग्रह की

सभी कविताओं को रचना के स्तर पर चित्रित करते हैं। यह निराला के अकर्मक प्रतिरोध की अभिव्यक्ति हो सकती है।

निराला एक ही समय में 'प्रार्थना के गीत' तथा दूसरी तरफ 'गर्म पकौड़ी' लिख रहे थे। उदाहरण -

'गर्म पकौड़ी ए गर्म पकौड़ी,
तेल की भूनी नमक मिर्च की लगी गर्म पकौड़ी।
पहले तूने मुझको खींचा,
दिल लेकर कपड़ों सा फींचा . . . .।'

'गर्म पकौड़ी' के चयन के माध्यम से निराला आभिजात्यता से बाहर निकलते हैं। वे ज़िन्दगी के निचले स्तर का वरण करते हैं। 'राम की शक्तिपूजा' की आभिजात्यता से बाहर निकलकर वे 'गर्म पकौड़ी' तथा कुकुरमुत्ता की दुनिया में प्रवेश करते हैं। ठीक उसी कालखंड में निराला की काव्य-भाषा देखें :

'दलित जन पर करो करूणा
दीनता पर उतर आए,
प्रभु, तुम्हारी भक्ति अरूणा।'

फिर 'प्रेम संगीत' में वे प्रेम की पूरी गरिमा को तहस-नहस कर देते हैं। उदाहरण :

'ब्राह्मण का लड़का,
मैं उसको प्यार करता हूं
जात की कहारिन वह,
मेरे घर की पनहारिन वह
उसके पीछे मैं मरता हूं।'

वस्तुत: निराला अपने भीतर के सारे संस्कार और चेतना को जैसे नष्ट कर देना चाहते हैं। कुकुरमुत्ता को हम कवि के मोहभंग से जोड़कर देख सकते हैं। अत: यह संग्रह निराला के मोहभंग से जुड़ा है तथा इसी काल के दूसरे संग्रह 'अणिमा' में प्रार्थनाएं हैं।

वस्तुतः विवाद तब शुरू होता है जब निराला कुकुरमुत्ता में 'राम की शक्तिपूजा' की दुनिया को छोड़कर वास्तविक दुनिया में प्रवेश करते हें। राम विलास शर्मा के अनुसार - **'निराला बेहोशी में काल्पनिक इच्छापूर्ति के सपने देखते हैं, होश आने पर उन्हें मिटा देते हैं।'** निराला ने अपनी जिन रचनाओं में काल्पनिक इच्छा पूर्ति के सपनों को मिटाया है वे 1942 में प्रकाशित अपने कविता संग्रह कुकुरमुत्ता में हैं। मोहभंग के साथ भावबोध में भी वही विकृति उत्पन्न हुई है तो वह मुख्यतः इन्हीं रचनाओं में।

प्रश्न : क्या यह कृति वस्तुतः 'राम की शक्तिपूजा' के आगे की रचना है ? क्या इसका संबंध यथार्थ से है ? मोहभंग किन-किन चीजों से है ? कुकुरमुत्ता निराला के मोहभंग के किन-किन बिन्दुओं को छूता है ?

निराला की काव्य-चेतना के निर्माण में वेदांत की गहरी भूमिका है। निराला रामकृष्ण मिशन से जुड़े थे। विवेकानन्द की तुलना में रामकृष्ण का प्रभाव उन पर अधिक था। उनके जीवन दर्शन में भी वेदांत का प्रभाव है। इस कविता में निराला अपने वेदांत के भाव को छिन्न-भिन्न कर देते हैं। वेदांत की मूल स्थापना है कि ब्रह्म सर्वव्यापक है। वह देश काल के बंधन से परे हैं। अतः सृष्टि की चेतना के जितने आयाम हो सकते हैं वह सब कुछ ब्रह्म में हैं। वेदांत का ब्रह्म कुकुरमुत्ता में कुकुरमुत्ता हो गया प्रतीत होता है। एक चकित कर देने वाला विस्तार इस कविता में है। इसमें वनस्पति, संगीत, दर्शन, मिथक, इतिहास तथा परंपरा सभी की उपस्थिति है। वेदांत के प्रतिबिम्बवाद का मखौल कुकुरमुत्ता में उड़ाया गया है। कुकुरमुत्ता कहता है कि मैं ही सब कुछ हूं। मैं मिथक में भी हूं तथा परंपरा में भी। अतः यह सर्वव्यापी सत्ता ब्रह्म है। परम्परा तथा दर्शन - सबके स्रोत के रूप में कुकुरमुत्ता स्वयं को स्थापित करता है। अतः निराला वेदांत के प्रति अपनी आस्था को कुकुरमुत्ता के माध्यम से भंग कर देते हैं।

निराला **सौन्दर्य** के कवि हैं। वे सौन्दर्य का वर्णन नहीं बल्कि उसके प्रभाव की सृष्टि करते हैं। निराला कुकुरमुत्ता में इस सौन्दर्य से बाहर निकलते हैं। सौन्दर्य की आंतरिक दीप्ति के स्थान पर वे आकृति और रूप के देहद अनगढ़ संदर्भों को सौन्दर्य से जोड़ने की कोशिश करते हैं। वे सौन्दर्यानुभूति

की विपरीत दिशा की ओर चलते हैं। जो निराला अन्य कविताओं में सौन्दर्य के अद्‌भुत, उदात्त, मनोरम पक्ष की सृष्टि करते हैं वे कुकुरमुत्ता में इसके विरोधी प्रभाव का निर्माण करते हैं। इस कविता में निराला सौन्दर्य की दुनिया से बाहर निकलकर फूहड़ता तथा अनगढ़ता की दुनिया में प्रवेश करते हैं।

कुकुरमुत्ता असंबद्धता की कविता है जिसमें रचनात्मक नैरंतर्य की कमी है। जीवन के बेहद औसत एवं अरचनात्मक पक्षों को इस कविता के विन्यास में शामिल किया गया है। शुष्क गद्यात्मकता के प्रयोग से निराला अपनी रचनात्मक आर्द्रता का ध्वंस कर देते हैं। उदाहरण –

'मैंने बदले पैंतरे,
जहां भी शासक लड़े।'

निराला के मोहभंग का एक संदर्भ **काव्यभाषा** भी है। निराला की भाषा नाद एवं व्यंजना से निर्मित है। काव्यभाषा के माध्यम से निराला अर्थ के आवर्त्त पैदा करते हैं। उनकी काव्यभाषा एक ऐसी भाषा है जिसमें यथार्थ, सपने, सौन्दर्य तथा कल्पना है, जिसमें दर्शन तथा अनुभूति का एक अद्‌भुत तथा विलक्षण योग दिखता है। वैसी काव्यभाषा की जमीन से उतर कर निराला विशुद्ध विवरण की भाषा में कुकुरमुत्ता में उतरते हैं। यह अकल्पनीय है कि जिस रचनाकार की भाषा में 'शक्तिपूजा' रची गई उसी निराला की भाषा में कुकुरमुत्ता भी शामिल है। छायावाद वस्तुतः भाषा के औदात्य का निर्माण करता है। पर निराला इस कविता में भाषा की शुद्धता को छोड़ते हैं – **'अबे सुन बे गुलाब।'** यहां भाषा में एक लंपटता दिखती है। कुकुरमुत्ता गाली का भी प्रयोग करता है – **'. . . . तू हरामी खानदानी'**। आदि से अंत तक इस कविता की भाषा छायावाद के औदात्य एवं महिमा को तोड़ती प्रतीत होती है।

कुकुरमुत्ता छायावाद की दुनिया से बाहर निकलने की कविता है। यह कविता कविता के हर प्रतिमान को तोड़ देती है। इसी कारण इसे निराला के मोहभंग की कविता माना गया है। इस कविता में वे सौन्दर्य एवं रचनात्मकता के सभी प्रश्नों को विकृत करते हैं। यह कविता निराला की काव्य चेतना के विकास को नहीं भाषा-प्रयोग की नयी दिशा की ओर संकेत करती है।

इस रचना में यथार्थ की क्या प्रकृति है ? निश्चित रूप से यह रचना यथार्थ का आभास देती है। इस कविता के दो पक्ष हैं। पहले पक्ष में संवाद है। इसमें दो वर्ग हैं – सर्वहारा तथा पूंजीवाद।

कुकुरमुत्ता सर्वहारा का तथा गुलाब पूंजीवाद का प्रतिनिधित्व करता है। पंजीपति वर्ग दूसरों के शोषण पर आश्रित होता है। शोषण पूंजीवाद के अस्तित्व का आधार है। पूंजीवाद साधारणता का विरोधी है। कुकुरमुत्ता का चरित्र सर्वहारा इसलिए है क्योंकि वह आत्मनिर्भर है। आत्मनिर्भरता सर्वहारा के चरित्र का एक महत्वपूर्ण लक्षण है। उदाहरण -

'देख मुझको, मैं बढ़ा
डेढ़ बालिश्त और ऊंचे पर चढ़ा
. . . . . .
पानी मैं तू बुलबुला।'

अपने प्रति आत्मविश्वास, संघर्ष-क्षमता, यह सर्वहारा का चरित्र है जो कुकुरमुत्ता में दिखता है। इसके द्वारा निराला वर्ग-आधारित समाज-व्यवस्था को रेखांकित करते हैं। इस कविता में सामान्य लोगों के रहन-सहन को आभिजात्य के समक्ष प्रकट किया गया है। यह दो जीवन पद्धतियों का भी वर्णन करती है। इस दृष्टि से कुकुरमुत्ता का पहला तथा दूसरा पक्ष उल्लेखनीय है। कविता के आरंभ में सूचना है -

'एक थे नव्वाब
फारस से मंगाए थे गुलाब

हमारे यहां जन्नत की जो कल्पना है, वैसा ही इस नवाब का जीवन है। कुकुरमुत्ता के दूसरे हिस्से में -

'बाग के बाहर खड़े ये झोंपड़े,
दूर से तो दिख रहे थे अधगड़े,
जगह गंदी, रुका सड़ता हुआ पानी।'

यहां दो वर्गों के जीवन के भूगोलों की सूचना दी गई है। एक भूगोल में सपना है, वैभव है तथा दूसरे भूगोल में वैसे लोग हैं जहां सड़ा पानी तथा नारकीयता की जिंदगी है। इसी नारकीय जिंदगी के बल पर स्वर्ग की जिन्दगी है। जहां पर कुछ लोगों की चमक के लिए करोड़ों लोगों का त्याग है। इस कविता की वर्गीय संरचना पर ध्यान दें तो यह महज एक भ्रामक रचना नहीं है और न ही अनगढ़

रचना है बल्कि उसमें निरंतरता है। अत: यह कविता **वैचारिक स्तर पर वर्ग व्यवस्था पर आधारित समाज को रेखांकित करती है।** इसमें दोनों वर्गों की जीवन-पद्धति का रेखांकन किया गया है।

वस्तुत: यह विडंबना ही है कि जहां एक तरफ बिलनुमा घरों में समाज की बड़ी आबादी रहने के लिए अभिशप्त है, वहीं दूसरी ओर गगनचुम्बी महल है। यह विषमता की शर्मनाक स्थिति है।

कुकुरमुत्ता में कविता का ज्यादा अर्थ दूसरे खण्ड में खुलता है। इसके दूसरे खण्ड में दो पात्र हैं- 1) मालिन की बेटी - **गोली** तथा नवाब की लड़की - **बहार**। दोनों सहेली हैं। सर्वहारा की सत्ता तथा अस्मिता किसी आभिजात्य वर्ग के इशारों पर निर्भर नहीं करती - उसकी जो स्वतंत्र अस्मिता है, अपने संघर्ष के आधार पर कायम है।

निराला के यथार्थबोध के तीन पक्ष हैं **वर्गीय समाज की स्वीकृति, सर्वहारा वर्ग के जीवन की स्थिति और समाज के हाशिए पर रहने वाले लोगों के प्रति सम्मान का भाव।** गुलाब अपनी खुशबू को आभिजात्य के प्रति गिरवी रख देता है। औसत समाज के लिए वह अनुपयोगी है जो संघर्ष तथा अस्मिता बोध पर टिका हुआ है। जो औसत है वही इतिहास की स्थायी वस्तु है। जो परजीवी है वह क्षणिक होता है। अत: यह कविता सामान्यत: जनता की पक्षधरता की है।

क्या कुकुरमुत्ता की भाषा यथार्थवादी भाषा का प्रतिमान है ? अधिकांश आलोचकों का मानना है कि कुकुरमुत्ता की यथार्थ-चेतना का महत्वपूर्ण आधार उसकी भाषा है। ऐसी भाषा जो आभिजात्य को पूर्णत: छोड़कर, सामान्य जीवन-व्यापार की अभिव्यक्ति-प्रणाली को स्वीकार करती है। 'शक्ति पूजा' की भाषा मंत्र की भाषा है जो तत्समता तथा सूक्ति पर आधारित है। शक्ति पूजा की भाषा सामासिक है।

कुकुरमुत्ता की भाषा की प्रकृति सपाट है। वह व्यास शैली की भाषा है। **वर्णनात्मकता** कुकुरमुत्ता का भाषिक वैशिष्ट्य है। यह भाषा सामान्य जनता की भाषा है। इसमें निराला ने भाषा के प्रति पवित्रता का आग्रह छोड़ दिया है। जनभाषा में सामाजिक संप्रेषण का आग्रह होता है। अत: आभिजात्य भाषा का प्रश्न लोकजीवन में महत्वपूर्ण नहीं हो सकता। इस देश की लोकभाषा में अंग्रेजी, तुर्की, हिन्दी आदि के कई शब्द घुले मिले हैं। निचले स्तर पर भाषा की मुख्य चुनौती संप्रेषण की है।

कुकुरमुत्ता की भाषा छायावाद की आभिजात्य भाषा को छोड़ती है। नवाबी संस्कृति के चित्रण के कारण इस कृति में अधिकतर अरबी, फारसी, तुर्की शब्दों का प्रयोग हुआ है। इसमें अंग्रेजी के बहुत से शब्द लिए गए हैं। अंग्रेजी, फारसी शब्द के द्वारा निराला ने वस्तुत: अपनी ही भाषा को छोड़ा है तथा भाषा को बोलचाल वाली भाषा बनाने पर बल दिया है। यह जीवन के यथार्थ की भाषा है। यह भाषा उस सीमा तक गिरती है जहां जीवन धड़कता है।

क्या कुकुरमुत्ता को **प्रतीक** के रूप में देखा जा सकता है ? कुकुरमुत्ता वर्गीय चरित्र का प्रतीक है। वह आदि से अंत तक सर्वहारा के अर्थ को धारण करता है। कुकुरमुत्ता एक वर्ग आधारित व्यवस्था में सर्वहारा वर्ग का समर्थन करता है। सर्वहारा आर्थिक असुरक्षा का नाम है। इस सर्वहारा के प्रतीक रूप में कुकुरमुत्ता है।

पर सर्वहारा के जवीन की जो कठिनाइयां हैं वह कुकुरमुत्ता के चरित्र में पूर्णत: नहीं दिखाई देतीं। इस कुकुरमुत्ता में बड़बोलापन है। वह अपने को केन्द्र में रखता है। वह निरंतर उपहास की मुद्रा में है। तनाव तथा दीनता का कोई संकेत कुकुरमुत्ता में नहीं है। डा0 रामविलास शर्मा के अनुसार - ''कुकुरमुत्ता की तर्क योजना जिस वर्ग-दृष्टि का परिचय देती है वह सर्वहारा की नहीं, लुम्पेन प्रोलेतेरियत 'Loompen Proleteriate' (लफंगे सर्वहारा) की वर्ग दृष्टि है। शहर के आवारा टूटपूंजियों का दृष्टिकोण, जो क्रांतिकारी संगठन तथा संघर्ष का रास्ता छोड़कर अराजकतावादी नीति अपनाता है।'' कहा गया है कि जो सर्वहारा है वह संगठित ढांचे में होता है पर इस सर्वहारा के पास वर्ग दृष्टि तो है पर संगठन नहीं है, दायित्व नहीं है। संगठन के बिना क्रांति की बात करना एक प्रकार का बड़बोलापन तथा अराजकता है।

-000-

कुरुक्षेत्र–(दिनकर)

1. युद्ध–दर्शन
2. प्रभाव
3. जीवनदर्शन
4. मानवतावाद

कुरुक्षेत्र में युद्ध–दर्शन

'कुरुक्षेत्र' मूलतः विचार काव्य है और विचार काव्य में कोई न कोई एक केन्द्रीय समस्या होती है। यानी कविता की विधा में इतिहास, समाज या मनुष्य के किसी महत्वपूर्ण प्रश्न पर विचार उसका विश्लेषण मंथन विचार–काव्य, में होता है।

विचार काव्य होते हुए भी 'कुरुक्षेत्र' महाभारत की कथा का आश्रय लेता है। भूमिका में दिनकर ने स्पष्ट किया है कि कुरुक्षेत्र की आवृत्ति इस पुस्तक का उद्देश्य नहीं है। यहां महाभारत का प्रसंग एक संदर्भ मात्र है। महाभारत की घटना के माध्यम से वे मनुष्य की सभ्यता के एक सनातन प्रश्न पर विचार करना चाहते हैं और यह सनातन प्रश्न है युद्ध। महाभारत युद्ध का केन्द्रीय प्रतीक है और कुरुक्षेत्र उस प्रतीक का भूगोल है। प्रतीक और उसके भूगोल का आश्रय लेकर सभ्यता के एक सनातन प्रश्न पर कुरुक्षेत्र में विचार किया गया है। इस प्रश्न के संभावित उत्तरों की दिशाओं को आलोकित करने की कोशिश की गई है।

इसमें दिनकर ने लिखा है कि "कलिंग–विजय' लिखते हुए मुझे महसूस हुआ कि युद्ध की समस्या ही मनुष्य की सारी समस्याओं की जड़ है।" मनुष्य की सभी समस्याओं की जड़ में दिनकर युद्ध की समस्या को मानते हैं।

समस्याओं से युद्ध उत्पन्न होते हैं या युद्ध से समस्याएं उत्पन्न होती हैं, इस पर भी विचार किया गया है। युद्ध समस्याएं उत्पन्न करता है या समस्याएं युद्ध उत्पन्न करती हैं, यह बहुत उलझा हुआ प्रश्न है। इस प्रश्न का तात्कालिक संदर्भ द्वितीय विश्वयुद्ध है। कोई भी रचनाकार अचानक ही किसी शाश्वत प्रश्न पर विचार नहीं करता। बल्कि शाश्वतता के भी कुछ तात्कालिक संदर्भ होते हैं। इस सनातन और शाश्वत प्रश्न का तात्कालिक संदर्भ है दूसरा विश्वयुद्ध। यह वही विश्वयुद्ध है जिसमें मानव–सभ्यता के इतिहास में पहली बार इतने बड़े पैमाने पर नरसंहार हुआ, जिसमें परमाणु बम का इस्तेमाल किया गया। युद्ध के इस तात्कालिक संदर्भ को आधार बनाते हुए उन्होंने सभ्यता और मनुष्य की नियति से युद्ध के प्रश्न को जोड़ा है।

इस युद्ध की दो स्थितियां हैं या दो परिप्रेक्ष्य हैं, पहले पर है युद्ध की परिस्थितियां, दूसरा बिन्दु है युद्ध के परिणाम। इन दोनों के बीच ही उसकी वास्तविक प्रकृति, अनिवार्यता या उसकी निरर्थकता पर बहस हो सकती है। यानी परिस्थिति और परिणति के ही युद्ध का वास्तविक विश्लेषण संभव है।

इस कृति के दो पात्र हैं युधिष्ठिर और भीष्म। ये दोनों क्रमशः दो पक्षों का प्रतिनिधित्व करते हैं। युधिष्ठिर युद्ध की परिणति से आहत चेतना के प्रतिनिधि हैं, भीष्म युद्ध की परिस्थितियों पर विचार करने वाली चेतना है। इस कृति में युद्ध को लेकर जितने भी उपलब्ध दर्शन और कारण हैं, दिनकर ने उनकी गहरी मीमांसा की है।

इसके साथ साथ कवि इस निंदित और क्रूर कर्म के लिए दायित्वशील शक्तियों की पहचान भी करना चाहता है। "युद्ध निंदित और क्रूर कर्म है किन्तु उसका दायित्व किस पर होना चाहिए। उस पर जो अनीतियों का जाल बिछा कर प्रतिकार को आमंत्रण देता है या उस पर जो अनीतियों के जाल को छिन्न भिन्न करने के लिए संघर्ष करता है ? पाण्डवों को निर्वासित करके एक प्रकार की शांति की स्थापना तो दुर्योधन ने भी की थी तो क्या युधिष्ठिर को इस शांति को भंग नहीं करना चाहिए ?" यानी युद्ध का संबंध अन्याय और अन्याय के प्रतिकार से जुड़ा हुआ है। जब तक समाज में, व्यवस्था में, अन्याय है तब तक युद्ध अवश्यंभावी है। तब तक युद्ध नहीं टाले जा सकते।

लेकिन अन्याय के प्रतिकार का परिणाम कौन भोगता है, यह प्रश्न समूची युद्ध मीमांसा को जटिल बना देता है। युद्ध का परिणाम सबसे अधिक बच्चे और स्त्रियां भुगतते हैं। तो क्या बच्चे और स्त्रियों की जिन्दगी से अधिक महत्वपूर्ण प्रतिकार है ? इन सवालों पर विचारों की एक उलझन भरी यात्रा 'कुरुक्षेत्र' में रचनाकार करता है।

जीवन के जो बेहद वास्तविक प्रश्न होते हैं उनके कोई उत्तर नहीं होते। मूल प्रश्न की प्रामाणिकता यही है कि वह अनुत्तरित होता है। कुरुक्षेत्र में कोई उत्तर नहीं है, इसलिए दिनकर इस कृति की शुरूआत करते हैं, युद्ध क्यों ? देश और जाति की लज्जा के नाम पर सामान्यतः युद्ध की घटनाएं घटित होती हैं। लेकिन साथ ही साथ कुरुक्षेत्र में यह प्रश्न भी उठाया गया है कि देश की लज्जा एक वास्तविकता है या सिर्फ आवरण है ? देश की लज्जा के नाम पर कुछ महत्वाकांक्षी राजनेता या बूढ़े किशोरों और जवानों की गर्दन कटवा देते हैं –

ईश जाने देश का लज्जा विषय,
तत्व है कोई कि केवल आवरण।

एक पर्दा है जिसके पीछे कुछ और शक्तियां काम कर रही हैं। इसलिए दिनकर भूमिका में स्पष्ट करते हैं कि स्वार्थ लोलुप सभ्यता के अग्रणी, स्वार्थ और लोलुपता से भरे वे लोग जो सभ्यता का नायकत्व करते हैं, युद्ध उनके पेटों की आग है, क्योंकि युद्ध मनुष्य की प्रकृति नहीं है। युद्ध एक आरोपित स्थिति है। सामान्यतः मनुष्य शांति से रहना चाहता है लेकिन जाति के नाम पर धर्म के

नाम पर, देश के नाम पर, मानवीय समाजों में घृणा की लपटों का प्रसार कराया जाता है और इस तरह से यह युद्ध की प्रक्रिया कभी थमती नहीं।

एक युद्ध के बाद समाज गहरे पश्चाताप की यातना से गुजरता है और इस तरह एक दूसरे युद्ध के लिए तैयार होता है। युद्ध की यह सनातनता मनुष्य की सभ्यता पर एक अंधेरी नियति के रूप में मंडराती रहती है। युद्ध मनुष्यों को ही नहीं बल्कि सभ्यताओं और संस्कृतियों को भी विकलांग करता है। इस विकलांगता की यातना को झेलते हुए समाज प्रतिज्ञा करता है कि अब युद्ध नहीं लेकिन फिर युद्ध की स्थितियां पैदा की जाती हैं और फिर–

लड़ना उसे पड़ता मगर और जीतने के बाद भी
रणभूमि में वह देखता है सत्य को रोता हुआ।

यह अजीब स्थिति है कि जीतने के बाद भी सत्य रोता हुआ रणभूमि में दिखाई देता है। यही युद्ध की नियति है और युद्ध की इसी नियति को कुरुक्षेत्र में दो संदर्भों में उठाया गया है।

'कुरुक्षेत्र' युद्ध की परिणति से उत्पन्न अवसाद और करुणा की परिस्थितियों के भीतर शुरू होता है। महाभारत में पाण्डवों की विजय हुई है। दिनकर का प्रश्न है कि क्या युद्ध से समस्याएं खत्म हो जाती हैं ? युधिष्ठिर उस मानवीय चेतना के प्रतिनिधि हैं जो जीवन के प्रश्न को युद्ध से बड़ा मानता है। युद्ध जीवन के प्रश्नों या समस्याओं के उत्तर का सर्वाधिक उचित माध्यम नहीं हो सकता। युधिष्ठिर का कथन है –

यह महाभारत वृथा निष्फल हुआ,
उफ् ज्वलित कितना गरलमय व्यंग्य है,
पांच ही असहिष्णु नर के द्वेष से
हो गया संहार पूरे देश का।

ये पांच लोग अगर सब्र कर लेते, कहीं भीख मांग कर खा पी लेते, तो युद्ध को बचाया जा सकता था। यह जो मानवीय प्रज्ञा है वह युद्ध के विजयी परिणाम को नहीं, बल्कि उसके महाविध्वंस और उस विध्वंस से उत्पन्न कारुणिक स्थितियों को देखती है –

द्रौपदी हो दिव्य वस्त्रालंकृता
और हम भोगें अहम्मय राज्य यह।
पुत्र–पतिहीना इसी से तो हुई,
कोटि माताएं करोड़ों नारियां।

जो युद्ध करोड़ों स्त्रियों को पुत्र और पति से वंचित कर दे, उस युद्ध के कारण कुछ भी हों लेकिन वह त्याज्य कर्म है, अमानवीय कर्म है और इसी यातना को लेकर युधिष्ठिर कथा के अनुसार भीष्म के चरणों में गिरते हैं –

हाय पितामह महाभारत विफल हुआ,
चीख उठे धर्मराज व्याकुल अधीर से।

कथा बता रही है कि युद्ध खत्म हो गया है और पाण्डवों के शिविर में उत्सव है। हस्तिनापुर के महल में दो लोग बचे हुए हैं – अंधे धृतराष्ट्र और आंख पर पट्टी बांधे हुए गांधारी। पाण्डव शिविर में जश्न है और युधिष्ठिर अकेले हैं। उनके कानों में विधवा स्त्रियों की चीख पुकार है, बच्चों का रुदन है, उत्तरा का विलाप है। इसलिए महाभारत के औचित्य को जानने के लिए वे भीष्म के पास जाते हैं।

'कुरुक्षेत्र' युद्ध के औचित्य की एक गहन संवेदनात्मक और वैचारिक मीमांसा है। युधिष्ठिर युद्ध को व्यक्ति की इच्छा, उसके विचार, उसकी प्रवृत्ति से जोड़ते हैं। युद्ध के प्रति एक नितांत भाववादी और वैयक्तिक दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व युधिष्ठिर करते हैं। इसलिए युधिष्ठिर को ऐसा लगता है कि युद्ध के होने और न होने में व्यक्ति का निर्णय अंतिम है। व्यक्ति–निर्णय से युद्ध की परिस्थितियों को नियंत्रित किया जा सकता है। युद्ध एक विकल्प है और इस विकल्प को व्यक्ति चुनता है। युधिष्ठिर की धारणा है कि युद्ध एक ऐसी घटना है जिसका सूत्र व्यक्ति के हाथ में है। अगर वह चाहे तो युद्ध को टाला जा सकता है –

'जानता कहीं जो परिणाम महाभारत का,
तन बल छोड़ मैं मनोबल से लड़ता ।'

गांधी की अहिंसा सत्याग्रह

यहां मनोबल क्या है, इसे स्पष्ट नहीं किया गया है। इस मनोबल के पीछे गांधी की सत्याग्रही चेतना की परछाई विद्यमान है। 'तप से, सहिष्णुता से, त्याग से सुयोधन को जीत नई, नींव इतिहास की मैं धरता।' अभी तक अधिकारों के निर्णय युद्धों के माध्यम से हुए हैं। युधिष्ठिर कहते हैं कि यदि मुझे पता होता कि महाभारत में ऐसा हो जाएगा तो मैं लड़ाई नहीं करता। मैं मन की लड़ाई लड़ता, तपस्या से, सहिष्णुता से, त्याग से सुयोधन का मन जीतता, और इतिहास में एक नयी परम्परा का सूत्रपात करता। कहीं यह अनुभव भी है कि दुर्योधन का हृदय परिवर्तन इतना आसान नहीं है, दुर्योधन को समझाने की कोशिश कृष्ण ने भी की थी, इसलिए आगे की पंक्ति में कहा अगर वह नहीं बदलता तो दूसरा भी विकल्प था –

और कहीं वज्र गलता न मेरी आह से जो,
मेरे तप से नहीं सुयोधन सुधरता
तो भी हाय रक्तपात नहीं करता मैं,
भाइयों के संग कहीं भीख माँग मरता।

दोनों विकल्प थे – तपस्या थी, विनय से तप से समझाने से, प्यार से दुलार से और अगर तब भी वह नहीं मानता तो दूसरा विकल्प तो था ही कि भीख मांग कर जीते और एक दिन मर जाते। इतना बड़ा विध्वंस तो नहीं होता। यह व्यक्तिवादी दृष्टिकोण है। कारण पांच लोगों का अहंकार था, इसलिए उपलब्ध विकल्पों को छोड़ कर, मैंने एक सुविधाजनक विकल्प लिया, उस विकल्प में मेरे स्वार्थ निहित थे। युद्ध मानवीय दुर्बलताओं का ही विस्फोट है। आज जो मैं कह रहा हूं, जब युद्ध शुरू होने वाला था तब मैं यह बात नहीं समझ पाया था–

किन्तु हाय जिस दिन बोया गया युद्ध-बीज,
साथ दिया मेरा नहीं मेरे दिव्य ज्ञान ने।

एक संकेत यह भी है कि दिव्य ज्ञान जीवन को संचालित नहीं करता। वह दुर्घटना के बाद ही उपलब्ध होता है। जिन्दगी को परिणति तक अगर ज्ञान पहुंचाए तो जीवन बहुत संतुलित हो, लेकिन जीवन की विडम्बना यह है कि परिणति पर पहुंचने के बाद हम ज्ञान को देख पाते हैं। जितने भी वृद्ध लोग हैं वे बहुत ज्ञानी हो जाते हैं। एक निर्णायक बिन्दु पर, जहां पर इतिहास के नक्शे पर निर्णय होने वाला था, वहां ज्ञान ने साथ नहीं दिया और ज्ञान कभी साथ नहीं देता। यही जीवन की सबसे बड़ी विडम्बना है। अहंकार ने ज्ञान को ढक लिया–

उलट दी मति मेरी भीम की गदा ने,
और पार्थ के सरासन ने अपनी कृपाण ने,
और जब अर्जुन को मोह हुआ रण बीच,
बुझती शिखा में दिया घृत भगवान ने।

अंतिम बिंदु पर भी यह दुर्घटना टाली जा सकती थी लेकिन कृष्ण ने ऐसा नहीं होने दिया। कृष्ण कहते हैं युद्ध अनघ है लेकिन मेरे प्राण वेदना और यातना की ज्वाला में जल रहे है। इसलिए इस युद्ध में सभी हिस्सेदार हैं सभी पापी हैं, लेकिन इसे धर्म युद्ध कहा गया है।

युद्ध एक ऐसी घटना है जो धर्म और अधर्म को, नैतिकता और अनैतिकता के अर्थ को स्थगित कर देती है। इससे बड़ी विडम्बना युद्ध की और क्या हो सकती है जहां पर विपरीतों के अर्थ स्थगित हो जाएं। न पाप का कोई अर्थ रह जाए और न पुण्य का अर्थ रह जाए और लोग

कहते हैं कि यह धर्म युद्ध है। कोई भी युद्ध किसी भी तर्क से न्यायपूर्ण नहीं कहा जा सकता। नैतिकता, न्याय और औचित्य के अस्तित्व को रौंदे बिना कोई भी युद्ध सम्पन्न नहीं हो सकता। तर्क दिया –

और महाभारत की बात क्या गिराए गए
जहां छल छद्म से वरण्य वीर आपसे ।

आपको गिराया गया, अभिमन्यु को मारा गया, सुयोधन की जांघ तोड़ दी गई, इस युद्ध में कोई पाप से नहीं बचा है। इसलिए अंतिम प्रश्न युधिष्ठिर पूछते हैं –

जानता नहीं मैं कुरुक्षेत्र में खिला है पुण्य,
या महान पाप यहाँ फूटा बन युद्ध है।

इतिहास कुरुक्षेत्र की व्याख्या किस रूप में करेगा ? इसे धर्म युद्ध के रूप में देखेगा या एक ऐसी घटना के रूप में जिसने देश और समाज को विकलांग बना दिया ? —

इन्हीं सवालों के संदर्भ में 'कुरुक्षेत्र' में युद्ध की मीमांसा की गई है। युधिष्ठिर युद्ध के परिणामों को महसूस करते हुए अन्ततः राज्य के त्याग की बात करते हैं–

करूं आत्मघात तो कलंक और घोर होगा,
नगर को छोड़ अतएव बन जाऊंगा,
पशु खग भी न देख पाएं जहां छिप किसी
कंदरा में बैठ अश्रु खुल के बहाऊंगा;
जानता हूं पाप न धुलेगा वनवास से भी
छिपा तो रहूंगा दुख कुछ तो भुलाऊँगा
व्यंग्य से बिंधेगा वहां जर्जर हृदय तो नहीं,
वन में कहीं तो धर्मराज न कहाऊँगा।

भीष्म युधिष्ठिर के भाववादी, व्यक्तिवादी तर्कों, यातनाओं और अनुभवों से अप्रभावित होते हुए युद्ध के वस्तुगत कारणों पर प्रकाश डालते हैं। सबसे पहले तो वे युद्ध को एक प्राकृतिक घटना के रूप में देखते हैं। कुछ मनोवैज्ञानिकों का यह कहना है कि अगर संसार में युद्ध न हों तो दुनिया बीमार हो जायेगी। कई प्रकार की विकृतियां समाज को घेरेंगी। युद्ध समाज को एक गति और मानसिक स्वास्थ्य प्रदान करता है। इसलिए जिन समाजों में युद्ध नहीं होता वे कभी भी नये नहीं हो सकते। तो युद्ध को भीष्म एक अनिवार्य प्राकृतिक घटना के रूप में देखते हैं और उसे तूफान से उपमित करते हैं। तूफान प्रकृति के कमजोर अस्तित्वों को नष्ट करने का एक शक्तिशाली उपाय है।

तूफान का आना अनिवार्य है। तूफान के माध्यम से प्रकृति यह जांच करती है कि कौन खड़ा रहने लायक है और कौन खड़ा रहने लायक नहीं है। तर्क दिया गया है कि तूफान अगर न हो तो धरती वनस्पतियों के बासी अम्बार से भर जायेगी –

और युधिष्ठिर से कहा तूफान देखा है कभी,
किस तरह आता प्रलय का नाद वह करता हुआ।.....

तूफान से वे प्रभावित होते हैं जो कमजोर हैं। लेकिन –

'पर शिराएँ जिस महीरूह की अतल में हैं गड़ीं
वह नहीं भयभीत होता क्रूर झंझावात से।'

जो तूफान है वह अस्तित्व की प्राणवत्ता की परीक्षा है। तूफान प्रकृति का वह माध्यम है जो नहीं रहने वालों के लिए नहीं रहने का साधन बनता है। उसी तरीके से तूफान के रूपक के द्वारा –

यूं ही नरों में भी विकारों की शिखाएं आग–सी .....

ऐसे ही मनुष्यों में विकारों की शिखाएं होती हैं। वह एक से दूसरे और दूसरे से तीसरे व्यक्ति में और अंततः एक सामूहिक आवेग के रूप में फूट पड़ती हैं। इसलिए यह जो युद्ध है यह सामूहिक व्यक्तियों के विकारों का विस्फोट है। समाजों में विकारों का ज्वालामुखी इकट्ठा हो रहा है युद्ध उसे बाहर निकालता है और समाज को स्वस्थ करता है। बाकी जो बाहर की स्थितियां हैं यह तो मात्र माध्यम हैं युद्ध अपनी मूल प्रकृति में एक मनोवैज्ञानिक विकार है –

राजनैतिक उलझनों के ब्याज से या देश प्रेम का अवलम्ब ले।

यह मानसिक विकार देश प्रेम का सहारा लेता है। तो युद्ध का जो पहला कारण है वह मूल रूप से मनोवैज्ञानिक है या प्राकृतिक है। मनोवैज्ञानिक पक्ष पर ज्यादा बल दिया गया है। प्रकृति के पास चूंकि मन नहीं है तो वहां पर तो मनोविज्ञान का प्रश्न नहीं है लेकिन जिस तरह से हवा का दबाव प्रकृति के प्राणों में बनता है वैसे ही मानसिक विकारों का दबाव जब व्यक्ति से समाज में बनने लगता है तब वही विकार देश प्रेम या राजनीति के आलम्बन से फूटता है जिसे हम युद्ध के रूप में जानते हैं। युधिष्ठिर का वक्तव्य था कि युद्ध पांच लोगों की वजह से है। भीष्म कहते हैं कि युद्ध के केन्द्र में एक अथवा कुछ व्यक्तियों के स्वार्थ तो होते हैं लेकिन उन स्वार्थों से अनेक वर्गों के विभिन्न स्वार्थ भी जुड़े होते हैं –

किन्तु गत रागद्वो कि इस कुरुक्षेत्र में
पांच के सुख ही सदैव प्रधान थे ....

युद्ध में मारे हुओं के सामने पांच के सुख दुख नहीं
उद्देश्य केवल मात्र थे।

यानी युद्ध की प्रकृति और प्रक्रिया जटिल और संश्लिष्ट होती है, इसलिए बहुत तरह के कारण, बहुत तरह की स्थितियां, बहुत तरह के दबाव युद्ध के नैपथ्य में सक्रिय होते हैं।

युद्ध की प्रकृति बहुत संक्रमणशील होती है आग की तरह। युद्ध यदि एक बिन्दु पर उत्पन्न हुआ तो अपनी संक्रमणशील प्रकृति के कारण वह एक सामूहिक ज्वाला में परिणत हो जाता है। इसलिए युद्ध की प्रकृति एक मानसिक संक्रमण की होती है। उसकी व्याप्ति अनियंत्रित होती है।

दूसरे स्तर पर उन्होंने कहा कि युद्ध एक अनिवार्यता भी है। सभ्यता और समाज की रूग्णता को दूर करने के लिए यह अनिवार्य है। औसत विचारकों की धारणा है कि अगर पश्चिम ने दो विश्व युद्धों का सामना न किया होता तो आज का पश्चिम वैसा नहीं होता जो दिखाई देता है। जो खुलापन है, जीवन को लेकर उत्साह और परिवर्तन को लेकर जितनी उदारता पश्चिम में है वह हिन्दुस्तान में नहीं है। हिन्दुस्तान ने महाभारत देखा नहीं, महाभारत उसकी स्मृति में है, लेकिन हिन्दुस्तान ने कोई ऐसा युद्ध नहीं लड़ा जो उसकी सामाजिक संरचना को चरमरा दे। पश्चिम के आधुनिकीकरण में और विकास में युद्ध की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण मानी गयी है। इस युद्ध की यातनाएं, त्रासदियां हैं और उस युद्ध की त्रासदी और यातना को बिना झेले हम नया हो जाना चाहते हैं। यह विचित्र विरोधाभास भारतीय आधुनिकता का है। दिनकर कहते हैं जो युद्ध है वह एक अनिवार्य रोग की अनिवार्य दवा है –

रुग्ण होना चाहता कोई नहीं
रोग लेकिन आ गया जब पास हो
तिक्त औषधि के सिवा उपचार क्या –
शमित होगा वह नहीं मिष्टान्न से।

इसलिए युद्ध एक अनिवार्य तिक्तता है एक बीमार सभ्यता और बीमार समाज के लिए। दोनों तर्कों में हम जो देख रहे हैं कि भीष्म जो तर्क युद्ध के लिए ले रहे हैं, उन तर्कों में एक स्तर पर युद्ध मानसिक विकारों का तूफान है। दूसरे स्तर पर एक अनिवार्यता है। युद्ध को लेकर पाप और पुण्य शब्द अनुचित हैं। पाप और पुण्य का निर्धारण उन कर्मों और घटनाओं में होता है जिनमें चुनने का विकल्प हो। अनिवार्य कभी भी अनैतिक नहीं होता। तर्क यह है कि कर्म में पाप और पुण्य नहीं होता। कर्म के संदर्भ में पाप और पुण्य होता है। तर्क दिया गया है कि –

है मृषा तेरे हृदय की कल्पना

युद्ध करना पुण्य या दुष्पाप है
क्योंकि कोई कर्म है ऐसा नहीं
जो स्वयं ही पुण्य हो या पाप हो।

यह तुम्हारे हृदय की जो तकलीफ है वह झूठी है। कर्म का संबंध पुण्य और पाप से नहीं है। कर्म के संदर्भ का संबंध पुण्य और पाप से होता है। इसलिए जो कर्ता भाव है वह पाप-पुण्य का संदर्भ बनाता है –

सत्य ही भगवान ने उस दिन कहा
मुख्य है कर्त्ता –हृदय की भावना।

कर्त्ता का जो हृदय है और भावना है वह कर्म को पाप और पुण्य का संदर्भ देती है। तो कर्म अपने आप में पाप पुण्य नहीं हो सकता। इसलिए इस युद्ध दर्शन में पाप और पुण्य की जो पारम्परिक और वैष्णवी अवधारणा है – हत्या पाप है, दूसरों को तकलीफ देना पाप है, दिनकर उस वैष्णवी अवधारणा को चुनौती देते हैं। वे पाप और पुण्य के मध्यकालीन विश्वासों को अधिकारों के संदर्भ में पुर्नव्याख्यायित करते हैं। संदर्भ है –

छीनता हो स्वत्व कोई और तू
त्याग तप से काम ले यह पाप है।

देश अभी आजाद नहीं हुआ है। हमसे स्वाधीनता छीनी गई है। कहीं न कहीं वह संदर्भ भी है। इसमें यह परिप्रेक्ष्य है कि जिसे हम गुण और मूल्य कहते हैं, नैतिकता कहते हैं, ये सनातन और शाश्वत नहीं होते, परिस्थिति सापेक्ष होते हैं। इसमें कहा गया है कि यदि तुम्हारा कोई अधिकार छिन रहा हो और तुम तपस्या से त्याग से, तप से, काम लो यह पाप है। 'पुण्य है विच्छिन्न कर देना उसे, बढ़ रहा तेरी तरफ जो हाथ हो।' अधिकारों को छीनने वाले हाथों को काट डालना यह पुण्य है। इसलिए अपनी अस्मिता अपने सम्मान और अपने अधिकार की रक्षा ही पुण्य कर्म है।

यहां पर सवाल थोड़ा उलझ गया है। दुनिया का कोई भी धर्म हिंसा और युद्ध को वरेण्य नहीं मानता। भीष्म इस स्तर पर अस्तित्व को दो टुकड़ों में विभाजित करते हैं – व्यक्ति का धर्म और समाज का धर्म, व्यक्ति धर्म और परिस्थिति धर्म। वैयक्तिक स्तर पर हिंसा कभी भी वरेण्य नहीं है। लेकिन सामाजिक परिस्थितियों के स्तर पर वैयक्तिक प्रश्नों को छोड़ना होता है। वैयक्तिक नैतिकता को तिलांजलि देनी होती है –

व्यक्ति का धर्म है तप करूणा क्षमा

व्यक्ति की शोभा विनय भी त्याग भी
किन्तु उठता प्रश्न जब समुदाय का
भूलना पड़ता हमें तप त्याग को।

सामाजिक अनिवार्यता और व्यक्ति के मानवीय मूल्यों में अगर चुनाव का प्रश्न है तो सामाजिक अनिवार्यता का चुनाव ही नैतिकता को परिभाषित करेगा। यह सामाजिक अनिवार्यता इतिहास और समय के दबाव से निर्मित होती है। इसलिए व्यक्ति की मान्यताएं, उसके मूल्य और उसके संस्कार विशेष ऐतिहासिक परिस्थितियों में समाज या समूह के लिए त्याज्य होने चाहिए। इसलिए लोग तर्क देते हैं कि तुम्हारे भीतर जो कल्याणमय व्यक्ति है उस स्तर पर तो दुख समझ में आता है लेकिन इन दोनों दलों के साथ जो समुदाय है पूछो उन समुदायों से कि क्या यह महाभारत अनिवार्य नहीं था ?

महाभारत अनिवार्य था क्योंकि महाभारत का होना व्यक्ति के चुनाव से जुड़ा हुआ नहीं था बल्कि यह समुदाय की अनिवार्य व्यवस्था थी। युधिष्ठिर को लगता है कि मैं युद्ध लड़ सकता था या नहीं लड़ सकता था, युद्ध के बदले में सुयोधन को मना लेता, नहीं मानता तो भीख मांग कर मर जाता। जीवन में इतने सरल विकल्प होते तो परेशानी कम होती। दरअसल विकल्पों की जटिलता को ही जिन्दगी कहते हैं। लेकिन अपनी प्रक्रियात्मकता में विकल्प बहुत धुंधले और जटिल होते हैं। भीष्म बताते हैं कि कई बार अपने ही निर्णय पर अपना अधिकार नहीं होता और वैयक्तिक चेतना के कारण कई बार अन्याय का पोषण हो जाता है। सामूहिक परिस्थितियों और वैयक्तिक मूल्यों में से जब व्यक्ति वैयक्तिक मूल्य का वरण करता है तो वह इतिहास और समूह के प्रति अन्याय करता है। उसमें उदाहरण देते हैं कि जब द्रोपदी का चीर हरण हो रहा था तब भी तुमने इसी वैयक्तिकता को ध्यान में रखा था तब भी तुमने यह तर्क लिया था कि मैं हार चुका हूं। इसलिए ऐतिहासिक या परिस्थितिगत अनिवार्यता और व्यक्ति के सत्धर्म के चुनाव के बिन्दु पर अगर व्यक्ति का सद्धर्म निर्वाचित हो तो वह अधर्म अन्याय अनैतिकता के पक्ष में जाता है। इसलिए कायरों की तरह तुमने अपनी पत्नी के लज्जा हरण का दृश्य देखा –

द्रौपदी के साथ ही लज्जा हरी थी जा रही
उस बड़े समुदाय की जो पाण्डवों के साथ था।

और यह द्रोपदी का चीर हरण नहीं हो रहा था तुम्हारे साथ के जितने लोग थे उनके सम्मान का हरण था। तुमने अपने सद्धर्म की रक्षा कर ली थी और कुल नारी के लज्जा हरण की स्वीकृति दी।

इसलिए युद्ध कभी भी चुनाव का प्रश्न नहीं होता। युद्ध एक अनिवार्यता है और जितने मूल्य है त्याग, तप, शिक्षा, नैतिकता ये जिन्दगी में स्थिर नहीं है। जिन्दगी इन्हें बार बार परिभाषित करती

है। इसलिए किसी भी मूल्य या नैतिकता को बिना किसी हस्तक्षेप के वही आत्मसात कर पाता है जो व्यवहारिक जिंदगी में नहीं है। इसलिए उन्होंने कहा कि – त्याग, तप, शिक्षा बिरागी योगियों के धर्म हैं। जब हम जिन्दगी में होते हैं तो जिन्दगी बार बार मूल्यों का केन्द्र बदलती रहती है। युधिष्ठिर ने कहा कि मुझे यह पता होता कि महाभारत का यह परिणाम है तो मैं शरीर के बल से नहीं लड़ता मनोबल से लड़ता। भीष्म का यह प्रश्न है कि क्या शरीर की लड़ाई मन से जीती जा सकती है –

कौन केवल आत्मबल से जूझ कर जीत सकता देह का संग्राम है
पाशविकता खड्ग जब लेती उठा, आत्मबल का एक बस चलता नहीं।

देह का संग्राम मन से नहीं जीता जाता। पशुता अगर हथियार उठा ले तब वह लड़ाई आत्मबल से नहीं बल्कि तलवार से लड़ी जाती है। फिर उन्होंने अपने इस तर्क को राम के जीवन पर घटित किया है और यही सवाल–

कानन में देख अस्थि पुंज मुनि पुंगवों का
दैत्य वध का था किया प्रण जब राम ने।

राम ने कहा था –

नहीं प्रिय सुधर मनुष्य सकता है तप त्याग से भी .....
तप का परन्तु वश चलता नहीं सदैव
पतित समूह की कुप्रवृत्तियों के सामने।

जब एक पूरा समाज उन्मादी हो जाये या पतित हो जाए तब तप और त्याग से नहीं, समाज को तलवार से ही बदला जा सकता है। दुष्टों को समर्थ दण्ड विधान के माध्यम से ही वश में किया जा सकता है।

युद्ध के कुछ राजनीतिक और आर्थिक कारण भी होते हैं, कुरुक्षेत्र में इन पर विचार किया गया है।

दिनकर ने कहा कि जब तक समाज में अन्याय है और असमानता है, युद्ध की परिस्थितियां खत्म नहीं हो सकतीं। मूल युद्ध के वास्तविक कारण शोषण के विधान में निहित होते हैं। इसलिए युद्ध के लिए वह व्यवस्था जवाबदेह है जो असमानता और शोषण के बावजूद शांति के महत्व की व्याख्या करती है –

समर निन्द्य है धर्मराज पर, कहो शांति वह क्या है
जो अनीति पर स्थित होकर भी बनी हुई सरला है।

मोटे तौर पर हम मान लेते हैं कि समर निन्द्य है लेकिन उस शांति का क्या अर्थ है जो शांति अनीति पर आधारित है। अनीति पर आधारित शांति के स्थान पर युद्ध अधिक मूल्यवान है। नीचे कहा है शांति कौन लोग चाहते हैं –

सुख समृद्धि का विपुल कोश संचित कर कल बल छल से।

सुख और समृद्धि को कल से बल से छल से संचित करके –

किसी क्षुधित का ग्रास छीन धन लूट किसी निर्बल से।

किसी भूखे का खाना छीन कर, किसी निर्बल से धन लूट कर –

सब समेट प्रहरी बिठलाकर कहती कुछ मत बोलो।

यह सब इकट्ठा करके कहते हैं कि समाज में शांति रहनी चाहिए। दिनकर कहते हैं कि ऐसे समाज में शांति नहीं हो सकती है –

सुख का सम्यक् रूप विभाजन जहां नीति से नय से।
संभव नहीं अशांति दबी हो जहां खड्ग के भय से।

जब तक सुख का सम्यक विभाजन नहीं होगा तब तक भय से अशांति को नहीं दबाया जा सकता। इसलिए अगर विषमता है तो युद्ध है। युद्ध की बुनियाद आर्थिक कारण हैं –

शांति नहीं तब तक जब तक सुख भाग न नर का सम हो।
नहीं किसी को बहुत अधिक हो नहीं किसी को कम हो।

इसलिए युद्ध कार्य नहीं है। जैसे बुखार स्वयं में रोग नहीं है रोग का लक्षण है वैसे युद्ध स्वयं में कोई कार्य और घटना नहीं है, वह ऐसी समाज–व्यवस्था का लक्षण है जो असमानता पर आधारित है। ऐसी समाज व्यवस्था में क्षमा नहीं बल्कि प्रतिशोध जीवन को अर्थवान बनाता है। इसलिए विषमतामूलक और अन्यायपूर्ण समाज व्यवस्था में शांति का आह्वान कायरता और पलायन का पर्याय है। बहुत प्रसिद्ध पंक्तियां कुरुक्षेत्र की हैं –

क्षमा शोभती उस भुजंग को जिसके पास गरल हो।
उसको क्या जो दंतहीन विष रहित विनीत सरल हो।

अन्याय और असमानता पर आधारित समाज व्यवस्था में क्षमा नहीं बल्कि सामर्थ्य धर्म है। भीष्म प्रतिशोध को नये धर्म के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं –

प्रतिशोध से हैं होती शौर्य की शिखाएं दीप्त
प्रतिशोध हीनता नरों में महापाप है।

प्रतिशोध हमारे पुरुषत्व को हमारी वीरता को हमारी प्रतिकार भावना को उद्दीप्त करता है। इसलिए जिसमें प्रतिशोध नहीं है, वह महापापी है। क्योंकि यह प्रतिशोधहीनता विषमतामूलक सामाजिक संरचना को स्थाई बनाती है। अगर समाज या व्यक्ति प्रतिशोध से रहित है तो इस अन्यायपूर्ण व्यवस्था को बदलने की कोई संभावना नहीं है। इसलिए प्रभु वर्ग के द्वारा बनाए गए इस मूल्य विधान को कुरुक्षेत्र के भीष्म अस्वीकार करते हैं। प्रभु का यह कहना है कि हिंसा पाप है लेकिन किसके द्वारा और किसकी हिंसा ? यह प्रश्न महत्वपूर्ण है–

पातकी न होता है प्रबुद्ध दलितों का खड्ग
पातकी बताना उसे दर्शन की भ्रांति है।
शोषण की शृंखला के हेतु बनती जो शांति
युद्ध है, यथार्थ में वो भीषण अशांति है।

शोषण को खत्म करने के लिए जो युद्ध हो वही वास्तव में शांति है और शोषण को बरकरार रखने के लिए जो शांति है वही वास्तव में अशांति है। आगे कहा –

सहना उसे हो मौन हार मनुजत्व की है।

शोषण और अन्याय को किसी रूप में सहना मनुष्यता की हार है। इस तरह की समाज व्यवस्था में क्रांति और विपल्व की एकमात्र धर्म है। इसी बीज का भाव विस्तार जो अभी तक के सर्गों में कही गई थी कुरुक्षेत्र के अगले सर्गों में किया गया है।

इस युद्ध दर्शन का समापन भीष्म इस बिंदु पर करते हैं कि पूरी मानव सभ्यता का लक्ष्य एक ऐसी समाज व्यवस्था का निर्माण है जिस समाज व्यवस्था में कोई अन्याय नहीं रहेगा। इस प्रश्न का उत्तर नहीं दिया गया है कि यह व्यवस्था निर्मित कैसे होगी ? क्या युद्ध से अन्याय की सनातन प्रक्रिया पर पूर्णविराम लगाया जा सकता है या नहीं लगाया जा सकता ? युद्ध सभ्यताओं की धमनियों में अभी तक खून की तरह बहते रहे हैं। और इन सभी युद्धों के बावजूद न्याय और समानता के लक्ष्य को पाया नहीं जा सका है। इसलिए जटिल प्रश्न को छोड़ कर अंततः भीष्म या दिनकर कुरुक्षेत्र में उस बिन्दु पर पहुंचते हैं जहां समानता, नीति, भाई चारा और प्रेम स्वप्न है।

समाज के लिए चिंतित नैतिक व्यक्ति की आशाओं और सपनों में ही एक ऐसा समाज उतरता है जो सभी प्रकार के भयों, अनीतियों और विषमताओं से मुक्त हो। इसलिए युद्ध को रोकने का कोई ऐसा सामाजिक, आर्थिक या राजनीतिक ढांचा नहीं है। इसलिए व्यक्ति ही एक युद्धविहीन समाज की परिकल्पना को अपनी आशाओं में निर्मित कर सकता है। और व्यक्ति की यही आशा समूची दुनिया में एक दिन प्रतिफलित होगी, इस आस्था और सम्भावना के साथ इस बेहद जटिल और उलझे हुए प्रश्न को कुरुक्षेत्र में खत्म किया गया है।

आशा के प्रदीप को जलाए चलो धर्मराज
एक दिन होगी मुक्त भूमि रण–भीति से।
भावना मनुष्य की न राग में रहेगी लिप्त
सेवित रहेगा नहीं जीवन अनीति से।

जीवन से अन्याय का पंजा उठेगा, और हार तथा जीत यानी अहंकार का प्रश्न गौण हो जायेगा। इसलिए हार से किसी की महिमा नहीं घटेगी और जीत से किसी का तेज नहीं बढ़ेगा।

स्नेह बलिदान होंगे माप नरता के एक

स्नेह और बलिदान ही मनुष्यता के मापदण्ड होंगे।

धरती मनुष्य की बनेगी स्वर्ग प्रीत से।

और एक दिन धरती प्रेम के माध्यम से स्वर्ग में रूपांतरित हो जायेगी। अतः कुरुक्षेत्र में जो युद्ध के कारण हैं युद्ध की परिस्थिति हैं, इन पर विचार तो किया गया है लेकिन अंततः भीष्म या दिनकर स्वयं आश्वस्त नहीं हो पाते कि क्या युद्ध अंतिम समाधान है। युद्ध अंतिम समाधान नहीं है। वह एक आपद् धर्म है। अंतिम समाधान आशा में है। समाधान का अस्तित्व हमेशा संभावनाओं में होता है। कुरुक्षेत्र का अंत संभावना के इसी बिंदु पर होता है।

0 0 0 0 0

कुरुक्षेत्र एक विचार प्रबंध है। इसमें एक निश्चित समस्या पर अनेक दृष्टियों से विचार किया गया है, समस्या के कारणों और निदान की खोज की गई है। कुरुक्षेत्र की समस्या युद्ध की समस्या है।

युद्ध को एक केन्द्रीय समस्या के रूप में आधार बनाकर कुरुक्षेत्र की रचना की गयी है। यानी कविता के अनुशासन में सभ्यता की केन्द्रीय समस्या का विश्लेषण इस कृति है।

कुरुक्षेत्र की भूमिका में दिनकर ने लिखा है कि **" 'कलिंग विजय' नाम की कविता लिखते हुए मेरे मन में यह सवाल कौंधा कि क्या युद्ध अनिवार्य है ? युद्ध की त्रासदी से उत्पन्न मनोस्थिति जो अशोक की चेतना में थी - अन्ततः इस युद्ध में क्या पाया गया, इस विजय की कीमत क्या है ? मेरी चेतना में भी उत्पन्न हुई।"** युद्ध में सभ्यता विकलांग हो जाती है। केवल देह ही नहीं मरती बल्कि भावनात्मक संबंध, मूल्य, विश्वास, परंपरायें सब मरती हैं। मनुष्य की चेतना में जो कुछ सुंदर स्वप्निल है युद्ध उसे भी नष्ट कर देता है। क्या कोई विजय इतनी मूल्यवान है कि उसके लिए मनुष्य के सपनों और जीवन को नष्ट किया जा सके ? दिनकर ने कहा कि ये कुछ प्रश्न थे जिनसे मैं जूझ रहा था। युद्ध अनिवार्य होने पर भी क्या मनुष्य जीवन से अधिक महत्वपूर्ण है ? ये सवाल दिनकर के मन में उठ रहे थे।

अनिवार्य कभी अनैतिक नहीं होता है। सभ्यता के विकास क्रम में मनुष्य ने मूल्यों, संस्कृति और संबंधों के स्तर पर जो अर्जित किया है उसी के सामूहिक बोध का पर्याय है। जीवन को केवल जन्म से मृत्यु तक की अवधि के संकुचित रूप में नहीं लेना चाहिए। लंबी जीवन प्रक्रिया और संघर्ष से, अनुभव व परिस्थितियों से गुजरकर मनुष्य मूल्यों, संस्कृति का निर्माण करता है। युद्ध इन मूल्यों तथा संस्कृति को एक झटके में नष्ट करता है। इसी संदर्भ में दिनकर ने महाभारत को देखा है।

कुरुक्षेत्र की रचनाभूमि में यही प्रश्न है। युद्ध की अनिवार्यता का प्रश्न ही कुरुक्षेत्र की रचना पृष्ठभूमि है। यह सवाल मनुष्य की सामाजिक परिस्थितियों, उसके जीवित रहने के संघर्ष और उसके मनोभावों से जुड़ा हुआ प्रश्न है। किसी सैद्धांतिक निर्णय के आधार पर युद्ध की परिस्थितियां निर्मित नहीं होतीं। इन जटिलताओं से जूझने का प्रयास कुरुक्षेत्र है।

कुरुक्षेत्र का रचनाकाल सन् 1942 है। दो विश्व युद्ध हो चुक थे। देश में अपनी तरह के गृह युद्ध की विकराल परिस्थितियां थीं। पाकिस्तान की मांग उठ चुकी थी। सांप्रदायिक संघर्ष उन्मादी रूप में मुंह उठा रहा था। इन सब स्थितियों ने युद्ध को समसामयिक प्रश्न बना दिया था। इस सनातन प्रश्न को

मिथक का संदर्भ लेकर समसामयिक परिस्थितियों से जोड़ा गया है। दिनकर ने कहा कि कुछ ऐसे प्रश्न हैं जो इतिहास की उम्र से बंधे हुए नहीं हैं, शाश्वत हैं और इन प्रश्नों के सामने खड़ा होना और उनका निदान पाना दर्शन और साहित्य की सबसे बड़ी चुनौती है।

एक विचारकाव्य के रूप में दिनकर ने अनेक स्त्रोतों से प्रभाव ग्रहण किया। कोई विचारकाव्य एकांतिक स्तर पर संभव नहीं है। परंपरा में जितने रचनाकार हैं, चिंतक हैं, रचनाकार सभी से स्त्रोत ग्रहण करते हैं। परंपरा और समसामयिकता में विचारों के जितने भी सूत्र हैं उनको स्त्रोत के रूप में दिनकर ने ग्रहण किया।

दिनकर पर सर्वाधिक प्रभाव बर्ट्रेन रसेल का है। रसेल के भी अनेक प्रसंग युद्ध के विषय से जुड़े हुए हैं। दोनों विश्वयुद्धों में **विज्ञान एवं तकनीक का प्रयोग** व्यापक स्तर पर हुआ इसलिए इनकी नैतिकता पर प्रश्नचिन्ह लगने लगा। विज्ञान और तकनीक मनुष्य को कौन सी दिशा देते हैं ? विज्ञान मांगलिक है या अभिशाप, यह यूरोपीय समाज के लिए अनिवार्य बहस थी। विज्ञान का संबंध युद्ध और विध्वंस से भी है। विज्ञान के प्रयोगों का मानव सभ्यता पर पड़ने वाले प्रभावों से यह बहस शुरू हुई। रसेल ने कहा कि विज्ञान मनुष्य की भाव संपदा को, उसकी संवेदनात्मक तरलता को नष्ट करता है। विज्ञान एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें हम जानते तो बहुत जाते हैं लेकिन अनुभव की क्षमता घट जाती है। (We know too much, and feel too little.) जीवन का अर्थ जानने में नहीं, अनुभूति में है। विज्ञान दरअसल केवल तकनीक का विकास नहीं करता बल्कि जीवन में एक ऐसा जलवायु बनाता है जिसमें हमारी अनुभव क्षमता घटने लगती है।

दिनकर ने कुरुक्षेत्र के छठवें सर्ग में विज्ञान की सार्थकता व उपयोगिता पर बहुत गंभीरता से विचार किया है। कुरुक्षेत्र में भी यह प्रश्न उठाया गया कि विज्ञान एक ऐसी सभ्यता का निर्माण करता है जिसमें नगरीकरण की प्रतियोगिता एवं लक्ष्यविहीन गति, अंधी दौड़ की स्थितियों का विकास होता है। इसलिए विज्ञान के बरक्स मूल्यों का सवाल दिनकर ने उठाया है। इसलिए मानवीय जीवन की सार्थकता विज्ञान की अंधी दौड़ में आगे निकल जाने में नहीं बल्कि प्रेम और सेवा जैसी उदात्त भावनाओं के द्वारा मानवमात्र के प्रति रागात्मक संबंध स्थापित करने में है। मनुष्य की सार्थकता बुद्धि पर भावों की जीत में है।

श्रेय उसका बुद्धि पर चैतन्य उर की जीत,
श्रेय मानव की असीमित मानवों से प्रीति।।

इस प्रकार विज्ञानवाद के विरोध में दिनकर ने रसेल से प्रभाव ग्रहण किया।

व्यक्ति और सत्ता का प्रश्न रसेल ने उठाया था। सत्ता के कुछ नियम और विधान हैं। उन नियमों-विधानों के अतिक्रमण को अपराध कहते हैं। क्या सत्ता के नियमों का उल्लंघन अनिवार्यतः अपराध नहीं है ? सत्ता के नियमों का उल्लंघन अपराध की श्रेणी में आता है। क्या अपराध शाश्वत, सार्वभौमिक, तात्विक अवधारणा है ? रसेल ने कहा कि ऐसी स्थिति हो सकती जिनमें कानून तोड़ना अपराध नहीं होता। ऐसी भी स्थिति आ सकती है जहां अराजकता कानून के पालन की तुलना में अधिक मूल्यवान हो। रसेल ने कहा - 'I don't deny that there are situation in which law breaking becomes a duty.' मैं इस बात से इन्कार नहीं करता कि जहां कानून का उल्लंघन व्यक्ति का कर्त्तव्य है। इसलिए कोई भी दर्शन यदि अपराध को तात्विक आधार पर सिद्ध करता है तो यह अपराध की भ्रांति है। इसलिए व्यक्ति और सत्ता के संबंध में कानून का अनुपालन व्यक्ति का शाश्वत कर्त्तव्य नहीं है। दिनकर ने व्यक्ति और सत्ता के संबंध का विश्लेषण करते हुए सत्ता के नियमों की पवित्रता, सार्वभौमिकता को प्रश्नाकूलता से जोड़ दिया है।

पातकी न होता है प्रबुद्ध दलितों का खड्ग -
पातकी बताना उसे दर्शन की भ्रांति है।
शोषण की शृंखला के हेतु बनती जो शांति
युद्ध है, यथार्थ में वो भीषण अशांति है।।

सत्ता के अनुसार अच्छा व्यक्ति वही है जो कानून का आदर करता है। रसेल ने कहा कि अच्छा व्यक्ति वह है जो औचित्य के पक्ष में है। एक सुंदर समाज का निर्माण मनुष्य को कायर और पालतू बनाकर नहीं किया जा सकता। बल्कि विवेक देकर ही दुनिया को सुन्दर बनाया जा सकता है। दिनकर ने व्यक्ति के विवेक, समानता के अधिकार, विरोध की चेतना को मानव जीवन की सार्थकता के रूप में स्थापित किया है।

उत्कर्ष
IAS

रसेल ने **नैतिकता** का प्रश्न उठाते हुए कहा कि दो प्रकार की नैतिकतायें होती हैं - **वैयक्तिक नैतिकता** एवं **सामाजिक** (नागरिक) नैतिकता। दोनों नैतिकतायें परस्पर विरोधी नहीं बल्कि संपूरक हैं। एक के बिना दूसरी अधूरी है। दोनों के सामंजस्य के बिना जीवन का सर्वांगीण विकास संभव नहीं है। किंतु ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न हो सकती हैं कि जब दोनों में एक का चुनाव करना पड़े तो मनुष्य को नागरिक नैतिकता का चुनाव करना चाहिए। वैचारिक नैतिकता की तुलना में नागरिक नैतिकता को महत्व देना चाहिए यद्यपि दोनों की परस्परता अपेक्षित है।

व्यक्ति का धर्म है तप करूणा क्षमा
व्यक्ति की शोभा विनय भी त्याग भी
किन्तु उठता प्रश्न जब समुदाय का
भूलना पड़ता हमें तप त्याग को।।

सामाजिक व वैचारिक नैतिकता के बीच यदि इतिहास व समय में टकराव पैदा हो तो व्यक्ति को सामाजिक नैतिकता का चुनाव करना चाहिए। इतिहास के प्रश्नों का उत्तर वैयक्तिक नैतिकता से नहीं दिया जा सकता। वैचारिक नैतिकता इतिहास की धारा को प्रभावित कर सकती है। भीष्म विलखते युधिष्ठिर से कहते हैं :

जो अखिल कल्याणमय है व्यक्ति तेरे प्राण में,
कौरवों के नाश पर है रो रहा केवल वही
किन्तु, उसके पास ही समुदायगत जो भाव हैं
पूछ उनसे, क्या महाभारत नहीं अनिवार्य था ?

इतिहास की अपनी गतियां तथा अनिवार्यतायें हैं। इनकी पहचान वैचारिक संदर्भ से संभव नहीं है। कुरुक्षेत्र में युधिष्ठिर गांधी का प्रतिनिधित्व करते हैं :

जानता कहीं जो परिणाम महाभारत का
तन बल छोड़ मैं मनोबल से लड़ता
और कहीं वज्र गलता न मेरी आह से जो,
मेरे तप से नहीं सुयोधन सुधरता

तो भी हाय रक्तपात नहीं करता मैं,
भाइयों के संग कहीं भीख मांग मरता।।

युद्ध किसी एक घटना या व्यक्ति का निर्णय नहीं होता बल्कि उसके पीछे समय व इतिहास की जटिल शक्तियों की भी भूमिका होता है।

व्यक्ति का धर्म है तप करूणा क्षमा।
व्यक्ति की शोभा विनय भी त्याग भी
किन्तु उठता प्रश्न जब समदाय का।
भूलना पड़ता हमें तप त्याग को।।

युद्ध को लेकर भी रसेल ने विचार किया है। रसेल ने युद्ध की अनिवार्यता का समर्थन किया है। इस अनिवार्यता के दो कारण हैं। पहला कारण मनोवैज्ञानिक है। **मनुष्य की चेतना में स्थित पाशविक वृत्तियों के शमन के बिना युद्ध की समस्या से स्थाई मुक्ति संभव नहीं है।** युद्ध के मुख्य स्त्रोतों में मनुष्य की चेतना में निहित पाशविक वृत्ति है। हिंसा अहंकारी चेतना में है। युद्ध समस्या का स्थायी हल नहीं है। **युद्ध के स्थायी समाधान का संबंध मनुष्य के भीतर अहंकार को शमित करने का है।** मनुष्य की चेतना में जब तक हिंसा व अहंकार उपस्थित हैं तब तक दुनिया को युद्धविहीन नहीं बनाया जा सकता।

युद्ध एक **प्राकृतिक घटना** है। प्रकृति को संस्कार देने का नाम संस्कृति है। जब तक मनुष्य के चित्त को सांस्कृतिक नहीं बनाया जायेगा तब तक युद्ध नहीं रुकेगा। विरोधों, स्वार्थों के संघर्ष को मिटाकर ही युद्ध का स्थायी समाधान संभव है। चूंकि इनको मिटाना संभव नहीं है इसलिए युद्ध का स्थायी निदान भी संभव नहीं है। भीष्म कहते हैं - युद्ध निंदनीय होते हुए भी अनिवार्य है।

युद्ध को तुम निन्द्य कहते हो, मगर,
जब तलक हैं उठ रहीं चिनगारियां
भिन्न स्वार्थों के कुलिश-संघर्ष की
युद्ध तब तक विश्व में अनिवार्य है।।

लेकिन अपने समग्र चिंतन के द्वारा रसेल ने अंततः युद्ध को निंदनीय ही माना है। युद्ध के वनिस्पत मानव जाति के पारम्परिक सहयोग को सर्वाधिक महत्व दिया है। युद्ध विवशता है, परिस्थितिजन्य अनिवार्यता है। इसीलिए रसेल के चिंतन में एक ऐसे समाज की कल्पना है जिसमें मनुष्य-मनुष्य के बीच प्रेम हो। भीष्म के इस कथन में रसेल की अवधारणा दिखाई देती है -

मैं भी हूं सोचता, जगत से
कैसे उठे जिघांसा,
किस प्रकार फैले पृथ्वी पर
करुणा, प्रेम अहिंसा।

रसेल के विचार से युद्ध की अनिवार्यता का दूसरा कारण **सामाजिक विषमता** है। सामाजिक विषमता की समाप्ति के बिना युद्ध का अंत संभव नहीं है।

तिलक गांधी के बाद भारतीय स्वाधीनता संग्राम के सर्वाधिक लोकप्रिय नेता थे। तिलक के चिंतन पर गीता का प्रभाव है। कुरुक्षेत्र और गीता दोनों का सन्दर्भ महाभारत है। तिलक एक विचारधारा के प्रतीक हैं। 'गीता रहस्य' के माध्यम से तिलक ने नयी व्याख्या करते हुए कर्म सिद्धांत पर बल दिया तथा हिंसा-शक्ति का समर्थन किया।

गीता में **कर्म की अनिवार्यता** की स्थापना है। इस कार्य सिद्धांत को तिलक ने अपने चिंतन का मूल आधार बनाया। कुरुक्षेत्र में दिनकर ने **कर्म को ही मनुष्य के जीवन का मुख्य लक्षण माना** है। हमारे जीवन की सार्थकता की अभिव्यक्ति जीवन की गति एवं कर्मशीलता में होती है। कर्म ही जीवन है, जीवन ही कर्म नहीं है। सक्रियता वैयक्तिक व सामाजिक स्तर पर व्यक्ति समाज का मूल्यसंबंध बनाती है।

कर्म (कार्य) न करने से शरीर की ऊर्जा खत्म हो जाती है। इससे भी अधिक नुकसान पहुंचता है आत्मा को। निकम्मापन व्यक्ति को पतित एवं भ्रष्ट बनाता है। गांधी इससे इतना प्रभावित हुए थे कि उन्होंने शिक्षा प्रणाली में 60% श्रम तथा 40% सीखने के ज्ञान पर बल दिया। श्रम के बगैर सीखना (Learning)

सूचना में बदल जाती है। शिक्षा की बुनियाद सीखना है, सूचना नहीं। कर्म की व्यापक अवधारणा 20वीं सदी में विकसित हुई जिसे सैद्धांतिक आधार तिलक ने दिया। कुरुक्षेत्र में दिनकर कहते हैं :

जब तक देह है मनुष्य के लिए धरती कर्ममंच है। मनुष्य कैसे सुख पायेगा ? मनुष्य का होना उसकी कर्मशीलता पर निर्भर करती है। कुरुक्षेत्र में कर्म की प्रवृत्ति पर विचार करते हुए दिनकर ने कर्म को निरपेक्ष बताया। 'गीता रहस्य' में तिलक ने हिंसा के प्रयोग के सन्दर्भ में कर्म की निरपेक्षता पर प्रकाश डाला। अशुभ का निर्णय कर्त्ता की भावना पर निर्भर करता है। दिनकर ने इस पहलू पर विचार करते हुए मांगलिकता या अमांगलिकता का प्रश्न उठाया।

है मृषा तेरे हृदय की कल्पना
युद्ध करना पुण्य या दुष्पाप है
क्योंकि कोई कर्म ऐसा नहीं
जो स्वयं ही पुण्य हो या पाप हो।

साधन की पवित्रता का आग्रह पलायनवाद को जन्म देता है। इसली प्रश्न साध्य का होना चाहिए अन्यथा इतिहास की गति अवरुद्ध हो जाती है। अधिकार व न्याय की रक्षा के लिए स्थापित नैतिकता को छोड़ा जा सकता है। स्थापित नैतिकता कभी कभी ऐतिहासिक प्रश्नों के समाधान के लिए अधूरी साबित होने लगती है। कर्त्ता हृदय की धारणा कर्म में महत्वपूर्ण है।

सत्य ही भगवान ने उस दिन कहा
मुख्य है कर्त्ता-हृदय की भावना।

कुरुक्षेत्र में दिनकर ने **प्रतिशोध तथा हिंसा का समर्थन** किया है। मनुष्य में प्रतिशोधहीनता स्वयं में एक पाप है। हिंसा का शमन अहिंसा से नहीं हो सकता।

भारतीय संस्कृति में मनुष्य की आत्यंतिक उपलब्धता चैतन्यता है। इसलिए शारीरिक भोग का निषेध विश्व संस्कृति में भारतीय संस्कृति को एक विशिष्ट चरित्र प्रदान करता है। भीष्म युधिष्ठिर से कहते हैं -

और सिखाओ भोगवाद की यही रीति जन-जन को

करें विलीन देह को मन में, नहीं देह में मन को।

भारतीय संस्कृति में बाहरी उपलब्धियों की तुलना में चरित्र की सात्विकता पर अधिक बल दिया गया है। चरित्र, तपस्या सार्थक मनुष्य को प्रामाणिक करने वाले विश्वास हैं। इस देश में उन्हीं लोगों को प्रामाणिक माना गया है जिन्होंने आचरण, त्याग, तपस्या से अपनी प्रामाणिकता सिद्ध की है। चरित्रबल, तपस्या को धन और ज्ञान से अधिक वरेण्य और मूल्यवान माना गया है -

प्रेरित करो इतर प्राणी को
निज चरित्र बल से,
भरो पुण्य की किरण प्रजा में
अपने तप निर्मल से।

चरित्र स्वयं में एक संदेश है। तप मांगलिक एवं लोक कल्याण के लिए एक ऐसी जीवन पद्धति है जिसमें कष्टों का सामना करना पड़े। दरअसल लोक कल्याण की साधना ही तप का पर्याय है। चरित्र, तप के महत्व की स्वीकृति कुरुक्षेत्र में भारतीय संस्कृति के प्रभाव से ही ग्रहीत है।

समाजवादी विचारधारा का कुरुक्षेत्र की रचना पर सर्वाधिक प्रभाव है। इस विचारधारा की तीन महत्वपूर्ण स्थापनायें हैं : (1) यह समाज, यह व्यवस्था विषमता पर आधारित है। इस विषमता से मुक्ति के लिए संघर्ष और संघर्ष के लिए हिंसा अनिवार्य है। (2) इतिहास और समाज की सभी समस्यायें असमानता के कारण हैं। (3) इस समाजवादी विचारधारा केदर्शन में एक स्वप्न है - समानता का स्वप्न।

कुरुक्षेत्र में दिनकर ने अधिकारों के लिए संघर्ष में हिंसा का समर्थन किया है। इसलिए अधिकारों की प्राप्ति के लिये की जाने वाली हिंसा नैतिक भी है और मानवीय भी। भीष्म ने प्रश्न उठाया- दिनकर पर आरोप है कि वे हिंसा के पक्षधर हैं। वस्तुत: दिनकर समग्रता में हिंसा का समर्थन नहीं करते लेकिन परिस्थितियों के कारण हिंसा का पक्ष लेने से गुरेज भी नहीं करते। इस स्तर पर अधिकार, न्याय का प्रश्न उठाते हुये उन्होंने हिंसा का समर्थन किया है। भीष्म कहते हैं -

शांति नहीं तब तक जब तक सुख भाग न नर का सम हो
नहीं किसी को बहुत अधिक हो नहीं किसी को कम हो।

अपराध, अराजकता, आतंक का स्त्रोत यह सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक व्यवस्था भी है। पाप पुण्य की बहस को कुरुक्षेत्र में दिनकर ने समाजवादी धरातल पर उठाया है -

पापी कौन ? मनुज से उसका। न्याय चुराने वाला ?

याकि न्याय खोजते विघ्न को। सीस उड़ाने वाला ?

भीष्म एक ऐसी व्यवस्था चाहते हैं जिसमें प्रकृति प्रदत्त सुविधाओं एवं संसाधनों पर सभी का अधिकार हो। यदि ऐसी व्यवस्था हो जाये तो धरती को स्वर्ग बनाने का सपना पूरा हो सकता है।

इस तरह से इन भिन्न-भिन्न विचारधाराओं का प्रभाव लेकर कुरुक्षेत्र में दिनकर ने अपनी जीवन दृष्टि का निर्माण किया है।

दिनकर का जीवन दर्शन (कुरुक्षेत्र का प्रतिपाद्य)

दिनकर की काव्यानुभूति को समझने के लिए उनकी [illegible] सघन अनुभूति है। कुरुक्षेत्र उनकी वैचारिक काव्यानुभूति की प्रतिनिधि रचना है। इस कृति में युद्ध, सामाजिक व्यवस्था, समानता के प्रश्न और मानवीय सभ्यता में विज्ञान की भूमिका जैसे महत्वपूर्ण विषयों पर विचार किया गया है। फिर भी कुरुक्षेत्र की केन्द्रीय समस्या युद्ध है। दिनकर ने इस कृति में युद्ध को निर्मित करने वाली परिस्थितियों के माध्यम से जीवन के अनेक आधारभूत प्रश्नों को उठाया एवं उनके उत्तरों की खोज की है। इसीलिए कुरुक्षेत्र दिनकर के जीवनदर्शन को प्रकाशित करने वाली, उनकी मूल्य चेतना को प्रस्तावित करने वाली महत्वपूर्ण रचना है।

श्री उत्कर्ष क्लासेज (रजि०) उत्कर्ष IAS Ph: 27639400, 9868486

प्रवृत्ति मार्ग का समर्थन

कुरुक्षेत्र में दृष्टि और दर्शन के दोनों आधार मौजूद हैं। एक है निवृत्ति, दूसरी है प्रवृत्ति। निवृत्ति जीवन से पलायन का मार्ग है, यह संन्यास की चेतना है। इसलिए निवृत्ति में जीवन के अस्वीकार का भाव अनिवार्यतः मौजूद है। निवृत्ति को नकारात्मक चेतना मानते हुए दिनकर ने प्रवृत्ति मार्ग पर बल दिया। यह प्रवृत्ति मार्ग जीवन के शृंगार कर्मठता और आशा का मार्ग है। निवृत्ति मार्ग के केन्द्र में आत्मा की प्रधानता है एवं प्रवृत्ति में सार्वजनिक जीवन की चेतना है, लोक और समाज की चेतना है। दिनकर

ने भीष्म के माध्यम से दोनों भागों की तुलना में प्रवृत्ति की महत्ता उद्घाटित की। निवृत्ति वैयक्तिक मुक्ति की आकांक्षा है जो मनुष्य को आत्मसीमित बनाती है।

वैयक्तिकता निवृत्ति मार्ग की संकीर्णता है। दिनकर कहते हैं कि संसार को स्वीकार कर ही नयी दुनिया और व्यवस्था का निर्माण किया जा सकता है। भीष्म युधिष्ठिर से कहते हैं :

पोंछो अश्रु, उठो, द्रुत जाओ। वन में नहीं, भुवन में।
होओ खड़े असंख्य नरों की। आशा बन जीवन में।।

संन्यासवाद, जंगलवाद का विरोध करते हुए दिनकर ने जीवन पर बल दिया। इस प्रवृत्ति मार्ग के दो लक्षण हैं : **आशा व संघर्ष**। निराशा से संन्यास की चेतना पैदा होती है, पलायन का भाव उत्पन्न होता है। वस्तुतः यह जीवन से अस्वीकार का मूलभाव है। यह सच है कि अंधेरा बहुत गहरा है, वह व्यापक है, विध्वंसकारी है, इसके बावजूद आशादीप जलाये रखने की जरूरत है, सपना देखने की जरूरत है। दिनकर ने कुरुक्षेत्र में भीष्म के माध्यम से कर्म, संघर्ष एवं आशा की भावना का समर्थन किया है -

आशा के प्रदीप को जलाए चलो धर्मराज,
एक दिन होगी मुक्त भूमि रण-भीति से।
भावना मनुष्य की न राग में रहेगी लिप्त
सेवित रहेगा नहीं जीवन अनीति से।।
स्नेह बलिदान होंगे पाप परता के एक,
धरती मनुष्य की बनेगी स्वर्ग प्रीति से।।

भाग्यवाद का विरोध

भाग्यवाद निवृत्ति मार्ग का बहुत महत्वपूर्ण सूत्र है जिसमें कर्म पर विश्वास नहीं है। कर्म पर अविश्वास के भीतर से ही भाग्यवाद का जन्म होता है। भाग्यवाद पाप एवं शस्त्र शोषण का आवरण है। यह विद्रोह, तर्क चेतना को नष्ट कर देता है।

गांधीवाद का विरोध

वस्तुतः परिस्थितियों ने दिनकर को सत्य, अहिंसा, करूणा ऐसे महान मूल्यों के विरोध में खड़ा कर दिया है। दिनकर ने कहा है कि इस देश के महापुरुषों, इस देश के लोगों के मानस में ऐसे महान मूल्यों की गहरी स्थापना कर दी है कि वे इतिहास की संकटपूर्ण परिस्थितियों का सामना ही नहीं कर सकते। महापुरुषों ने एक शतुरमुर्गीय मनोविज्ञान का निर्माण किया है। एक उदार राज्य वास्तव में धूर्त व कायर समाज होता है जो अपनी कायरता को छिपाने के लिए इन महान मूल्यों को आगे कर देता है। कुरुक्षेत्र में गांधी के सत्य, अहिंसा के दर्शन को अधिकार व हिंसा के दर्शन से टकरा दिया गया है। बेहद विषम समाज में नैतिकता व औचित्य की नयी संहिता अपेक्षित है। इस प्रकार दिनकर ने गांधीवादी दर्शन का विरोध किया है –

क्षीनता हो स्वत्व कोई और तू
त्याग तप से काम ले यह पाप है।

श्री उत्कर्ष क्लासेज (रजि०) उत्कर्ष IAS/PCS Ph.: 27659400, 9868448606

दिनकर ने जहां एक तरफ प्रवृत्ति का समर्थन किया वहीं दूसरी तरफ गांधीवादी दर्शन के तप, अहिंसा, सहनशीलता का विरोध किया है। गांधीवादी विचार युगीन संदर्भ में प्रक्षेपित हैं। गांधी ने तन की लड़ाई से अधिक मन की लड़ाई पर बल दिया। दिनकर ने कहा तनबल श्रेष्ठ है मनोबल से। उपलब्ध परिस्थितियों में मानसिक ताकत की तुलना में भौतिक ताकत अधिक महत्वपूर्ण तथा निर्णायक हो जाती है। दिनकर प्रतिशोध का समर्थन करते हैं। प्रतिशोध अन्यायी की ताकत को उसकी भाषा में जवाब देने की क्षमता है। यह चेतना ऊर्जा पैदा करती है जिससे न्याय हासिल किया जा सकता है। इस प्रकार दिनकर शक्ति का समर्थन करते हैं।

प्रतिशोध से होती शौर्य की शिखाएं दीप्त
प्रतिशोधहीनता नरों में महापाप है।

दुष्ट शक्ति अपनी दुष्टता पर प्रतिबद्ध हो जाये तो हिंसा अनिवार्य हल है। कुरुक्षेत्र में अनिवार्य परिस्थितियों में हिंसा को मूल्य के रूप में स्थापित किया गया है। संघर्ष की अनिवार्यता तथा भौतिक

शक्ति के प्रयोग की अनिवार्यता पर बल दिया गया है। शक्ति व हिंसा का प्रयोग अनिवार्य परिस्थितियों में नैतिक होता है।

कानन में देख अस्थिपुंज मुनि पुंगवों का
दैत्य वध का था किया प्रण जब राम ने।

मानवतावाद

मानवतावाद का मूल आधार है मनुष्य मात्र का कल्याण। मनुष्य को केन्द्र में रखकर परिस्थिति को विश्लेषित करने वाली जीवन दृष्टि है। कुरुक्षेत्र में जीवन दृष्टि के अन्य प्रसंगों के बावजूद, चिंतन पद्धति की स्वीकृति के बावजूद इस मानवतावाद पर अधिकतम बल दिया गया है। कुरुक्षेत्र का केन्द्रीय प्रश्न है। इस लड़ाई के बावजूद क्या उसे प्राप्त किया जा सका किस लिये लड़ाई की गयी।

मानव चिंतन धारा कर्म के परिणामों पर विचार करने वाली है, कारण पर नहीं. परिणामों पर। युद्ध चाहे जिस कारण से हो परिणाम निर्दोषों को भुगतना पड़ता है – विशेषत: स्त्रियां, बच्चों को। मानवतावाद ऐसी जीवनदृष्टि है जो युद्ध के कारणों से अधिक उसके परिणामों पर अधिक गंभीरता से विचार करती है। युद्ध का परिणाम बचे हुए लोगों को नैतिक भावात्मक विकलांगता का शिकार बनाता है। कितना भी बड़ा प्रश्न हो उसके लिए युद्ध का समर्थन नहीं किया जा सकता।

इस कृति में युद्ध के अनेक वक्तव्यों में भीष्म के माध्यम से हिंसा व युद्ध का समर्थन करने के बावजूद मानवतावादी चिंतन की लकीरें छोड़ी हैं। जिस निष्कर्ष के धरातल पर पहुंचते हैं। वह मानवतावाद ही है।

पृथ्वी हो साम्राज्य स्नेह का,
जीवन स्निग्ध, सरल हो
मनुज-प्रकृति से वृक सदा को
दाहक द्वेष गरल हो
वह प्रेम की धार मनुज को
वह अनवरत भिगोये।

इस तरह से मानवतावाद के धरातल पर कुरुक्षेत्र युद्ध को अनिवार्य मानते हुए भी उसका वैचारिक समर्थन नहीं करता है। अंतत: हमारे सभी विचारों, धर्मों, दर्शनों, सभ्यताओं का लक्ष्य एक ऐसी जीवन व्यवस्था का निर्माण है जिसमें मनुष्य अपनी मनुष्यता को जी सके और उसका पूरा विकास कर सके।

सारांशत: कुरुक्षेत्र दिनकर की एक विचार प्रबंधात्मक रचना है जिसमें उन्होंने युद्धजनित परिस्थितियों पर विस्तार से विचार किया है। इस प्रक्रिया में उन्होंने अपने जीवनदर्शन के अनेक पहलुओं को शामिल किया। यह प्रतीत होता है क मौजूदा परिस्थितियों में हिंसा, युद्ध मनुष्य की अनिवार्य नियति है और इस अनिवार्यता से दिनकर की सहमति भी है लेकिन एक कवि के रूप में दिनकर युद्ध को मानव जीवन का काम्य नहीं मानते। इसलिए एक ऐसी दुनिया का सपना देखते हैं जिसका मूल आधार प्रेम और सहयोग हो। और इस आधार को वे मानवतावादी जीवनदर्शन में हैं। मानवतावादी जीवन मूल्य दिनकर का स्वप्न है और युद्ध उसकी सामयिक, ऐतिहासिक यथार्थ। कुरुक्षेत्र निष्कर्षों की कविता नहीं है। इसमें युद्ध का यथार्थ और मानवतावाद का स्वप्न एक बेहद तनावपूर्ण बिंदु पर आमने सामने खड़े हैं।

श्री उत्कर्ष क्लासेज (रोहतक) उत्कर्ष IAS Ph.2765400-IAS/PCS-9868448606

असाध्य वीणा

1. परिचय
2. काव्यानुभूति
3. असाध्यवीणा : काव्यार्थ
4. अज्ञेय की काव्यानुभूति
5. असाध्यवीणा का कथ्य (प्रतिपाद्य)
   - रचनानुभूति और समय का रिश्ता
   - असाध्यवीणा
   - पर्यवेक्षण
6. असाध्यवीणा का शिल्प
   - भाषा
   - बिम्ब
   - प्रतीक
   - छन्द योजना
   - उपमान योजना

   काव्य रूप

असाध्य वीणा

परिचय

छायावादोत्तर हिन्दी कवियों को एक नयी सर्जनात्मक जमीन पर विकसित करने वाले कवियों में अज्ञेय का अन्यतम स्थान है। अज्ञेय ने छायावाद के भावावेग, प्रगतिवाद के विचारधारात्मक नियतिवाद (मनुष्य, इतिहास और उसके संबंधों को मार्क्सवादी विचारधारा को व्याख्यायित करना) का विरोध करते हुए हिन्दी कविता में आधुनिकता का सूत्रपात किया। इसलिए अज्ञेय नयी काव्य संवेदना के निर्माता, प्रवक्ता एवं भाष्यकार हैं।

अज्ञेय के रचनाकार व्यक्तित्व का फलक बहुत विस्तृत एवं विविध है। वे नयी काव्य प्रवृत्तियों के सूत्रधार कवि, मौलिक निबंधकार, उपन्यासकार, कहानीकार, संपादक हैं। उन्होंने दिनमान (टाइम्स ऑफ इण्डिया समूह) को प्रारंभ किया जो अपने समय की हिन्दी की प्रामाणिक एवं प्रखर राजनीतिक पत्रिका थी। नवभारत टाइम्स के संपादक भी रहे। अज्ञेय एक साथ आधुनिक आलोचना शास्त्र के निर्माता एवं सांस्कृतिक चिंतक दोनों थे। पचास वर्षों की समयावधि में अज्ञेय का रचना कर्म फैला हुआ है।

अज्ञेय हिन्दी की वर्चस्वशाली विचारधारा मार्क्सवाद का विरोध करने वाले रचनाकार हैं। शुक्लोत्तर मार्क्सवादी आलोचना धारा के प्रतिनायक हैं। सारी आलोचना धारायें अज्ञेय के व्यक्तित्व, कृतित्व को खारिज करती दिखाई देती हैं। अज्ञेय की वैचारिक, रचनात्मक हत्या के प्रयास मार्क्सवादी आलोचना में है। अज्ञेय पर आरोप है कि वे पश्चिमी सभ्यता के नकलची प्रवक्ता, नितान्त कलावादी, रहस्यवादी, समाजविरोधी सब एक साथ हैं। अज्ञेय को प्रतिक्रियावादी साहित्यकार माना गया है। इसलिए बहुत आश्चर्य नहीं है कि नयी पीढ़ी अज्ञेय को मार्क्सवादी नजरिये से देखने की अभ्यस्त हुई है।

काव्यानुभूति

अज्ञेय छायावादोत्तर हिंदी कविता के सूत्रधार हैं। वे मार्क्सवादी आलोचना के केन्द्र में रहे हैं। उनकी काव्यानुभूति का केन्द्र व्यक्ति है। दरअसल व्यक्ति और समय के संबंधों की व्याख्या अज्ञेय की

केन्द्रीय रचना समस्या है। व्यक्ति और समाज के संबंधों की व्याख्या का प्रश्न केवल कविता का प्रश्न नहीं है। वह आधुनिक समस्या का केन्द्रीय प्रश्न भी है। आधुनिक सभ्यता में व्यक्तित्व का विघटन और समाज की व्यक्तित्वहीनता दोनों स्थितियां एक साथ विकसित होती हैं। इस विघटन और व्यक्तित्वहीनता के कारण मानवीय जीवन में एक विराट नैतिक शून्य उपस्थित हुआ है जिस पर आधुनिक युग के सभी दार्शनिकों व विचारकों ने गंभीरता से विचार किया है। वस्तुतः औद्योगिक क्रान्ति के बाद जिस आर्थिक सामाजिक व्यवस्था का विकास हुआ उसके केन्द्र में मनुष्य नहीं है। पूंजी, सत्ता, उपभोग की त्रयी ने मनुष्य को विस्थापित कर दिया है। ये शक्तियां मनुष्य का उपयोग करती हैं। इस त्रासदी के विरोध में अज्ञेय ने व्यक्ति की केन्द्रिकता को स्थापित किया है।

बाजार में मनुष्य केवल उपभोक्ता है, राजनीति में मतदाता है। वहां व्यक्तित्व का प्रश्न नहीं है। वह उपभोक्ता एवं मतदाता में संकुचित हो गया है। मनुष्य के सामाजिक जीवन को संचालित करने वाली ये दोनों शक्तियां व्यक्ति की अस्मिता को नष्ट करने वाली हैं। इसलिए अज्ञेय का व्यक्तित्व पर आग्रह मानवीय अस्मिता के आग्रह का ही एक प्रतिरूप है। इसलिए उनकी अनेक कविताएं व्यक्तित्व के आग्रह को उद्घाटित भी करती हैं एवं स्थापित भी।

यह दीप अकेला स्नेह भरा
है गर्व भरा मदमाता पर
इसको भी पंक्ति को दे दो।

व्यक्ति व्यक्तित्वसंपन्न होकर ही समाज निर्माण कर सकता है। इस प्रज्ज्वलित स्नेह (तेल) से भरे दीये को मैं पंक्ति (समाज) को समर्पित कर रहा हूं। अज्ञेय ने कहा है कि जो समाज व्यक्तित्व से संपन्न व्यक्तियों से मिलकर बनता है वही सांस्कृतिक समाज है अन्यथा वह भीड़ में तब्दील हो जाता है। समाज में प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्तित्व होता है, भीड़ में सभी व्यक्तियों के व्यक्तित्व का अन्तर्लयन हो जाता है। भीड़ बेचेहरा समाज है। बाजार, राजनीति, समाज को भीड़ में रूपान्तरित कर रहे हैं।

इस संबंध में अज्ञेय ने व्यक्ति, समाज के संबंधों पर विचार किया है। मार्क्सवाद के अनुसार व्यक्ति समाज का उत्पादन है। व्यक्ति के संस्कार, भाषा, रहन-सहन, खान-पान, उसके सौंदर्यात्मक मूल्य

भी समाज से आये हैं यानी समाज ही व्यक्ति को परिभाषित भी करता है एवं पहचान भी देता है। अज्ञेय ने इस विचारधारा का विरोध करते हुए कहा कि व्यक्ति समाज का उत्पादन नहीं है बल्कि वह स्वयं इकाई है। समाज में रहते हुए भी समाज का निर्माण करता है एवं परिवर्तित करता है। मानव सभ्यता में सामाजिक परिवर्तन का इतिहास व्यक्तित्वों से संचालित है। इतिहास का निर्माण समाज नहीं व्यक्ति करता है। व्यक्ति समाज का फोटोस्टेट नहीं है उसका अपना व्यक्तित्व है। अज्ञेय कहते हैं कि मैं जोर देकर कहना चाहता हूं कि व्यक्ति प्राथमिक है, बुनियाद व्यक्ति है। इस बुनियाद पर समाज का महल खड़ा है। व्यक्ति समाज में नहीं समाज से स्वतंत्र है। अज्ञेय ने अपनी कविता 'नदी के द्वीप' में समाज एवं व्यक्ति के संबंध को नदी और द्वीप के संबंध के रूप में प्रस्तुत किया है। द्वीप नदी के प्रवाह में स्थित होता है लेकिन नदी के साथ बहता नहीं है बल्कि वह नदी के कारण ही अस्तित्व में है फिर भी उसकी अपनी पहचान है।

हम बहेंगे तो रहेंगे ही नहीं .....

यदि द्वीप अपनी पहचान खोने लगे तो नदी गंदला हो जायेगी। व्यक्ति पहचान खोकर, भीड़ बनने लगे तो समाज में मूल्यगत प्रदूषण हो जायेगा। उसके कारण अज्ञेय की दुर्व्याख्या हुई कि अज्ञेय समाजविरोधी हैं।

रचना और समाज के संबंध पर अज्ञेय मार्क्सवादी दृष्टि का सीधा विरोध करते हैं। मार्क्सवाद (प्रगतिवाद) के अनुसार समाज साहित्य का स्रोत है। इसलिए साहित्य सामाजिक सम्पत्ति है। साहित्य की केन्द्रीय भूमिका वर्ग विभाजित समाज में परिवर्तन करना है। साहित्य की रचना प्रक्रिया वस्तुत: जीवनानुभव से व्याख्यायित की जा सकती है। इस तरह से कला की अनिर्वचनीयता का विरोध व व्यवस्था परिवर्तन में रचना की भूमिका पर मार्क्सवादी आलोचना में बल दिया गया है।

अज्ञेय ने इस विचारधारा का विरोध किया है। अज्ञेय के अनुसार साहित्य समाज को बदलने का माध्यम नहीं है। मानव सभ्यता के इतिहास में आज तक किसी रचना ने समाज को बदलने का काम नहीं किया है। वस्तुत: रचना सामाजिक परिवर्तन का अनुशासन होती है क्योंकि रचना व्यक्ति को संबोधित होती है, समाज को नहीं। एक ही रचना का अलग-अलग पाठक पर अलग-अलग प्रभाव

पड़ता है। कोई भी रचना इस अर्थ से सार्थक होती है कि वह पाठक की संवेदना का विस्तार करती है। रचना पाठक के बोध के आयाम को विस्तृत करती है। किताबें पढ़कर क्रान्ति नहीं हो सकती।

रचना प्रक्रिया अपने प्रथम आघात में अव्याख्येय है। जिस तरह से स्वाति की बूंद सीपी को तोड़ देती है उसी तरह रचना की प्रथम अनुभूति चेतना को बेधती है। रचनानुभूति का प्रथम उन्मेष अव्याख्येय है। यह आरोप है कि अज्ञेय कविता का आध्यात्मीकरण कर रहे हैं। अज्ञेय ने कहा कि कविता की प्रथम अनुभूति क्षण में आती है :

और सब समय पराया है
वस उतना ही क्षण अपना है
तुम्हारी पलकों का कंपना।

सबसे गहरी अनुभूति प्रेम की होती है एवं वह **क्षण में ही** घटित होती है। इसीलिए अज्ञेय ने कहा कि इतिहास के स्थान पर रचनाकार के लिए क्षण की अनुभूति केन्द्रीय सरोकार है। **व्यक्ति** पर समाज की तुलना में बल, इतिहास की तुलना में क्षण पर बल अज्ञेय ने दिया।

काव्यभाषा के संबंध में अज्ञेय ने कहा कि कविता भाषा से नहीं बनती। रचनाकार की बुनियादी समस्या अपने अनुभव का प्रतिनिधित्व करने वाले शब्द के चुनाव की समस्या है। कविता शब्द से लिखी जाती है। कोई भी कविता शब्द से शुरू होती है और जो बात सबसे अंत में बची रह जाती है वह भी शब्द ही है। इसलिए कविता शब्द के अनुशासन पर आधारित होती है। शब्द का चुनाव व अनुशासन ही कविता का नियामक है। यह शब्द ही है जो कविता को अन्य रचनात्मक अनुशासनों से अलग करता है। इसलिए शब्द की व्यवस्था, चुनाव कविता को अन्य रचना विधाओं से अलग करते हैं। इसलिए शब्द कविता की अस्मिता का पर्याय है। अज्ञेय ने **व्यक्ति, क्षण एवं शब्द अर्थात इकाई पर बल** दिया।

अज्ञेय की कवितायें **जीवनानुभूति व काव्यानुभूति में फर्क** करने वाली कवितायें हैं। अज्ञेय के रचना दर्शन में जीवनानुभूति, कलानुभूति अलग अलग अनुशासन हैं। रचना जीवन की अनुभूति की प्रतिच्छाया नहीं होती, दरअसल रचना जीवनानुभूति का एक विशिष्ट क्रम से, विशेष वलाघात से उत्पन्न अनुशासन है। रचना जीवन के अनुभूति क्रम को परिवर्तित करती है। सामाजिक जीवन की अनुभव

प्रक्रिया रचना में नहीं आती, उसको रचनाकार बदल देता है। रचना अनुभव के बलाघात एवं अनुपात से निर्मित होती है। अज्ञेय ने रचनानुभूति, कलानुभूति, जीवनानुभूति को अलग-अलग माना है। इसलिए रचनाकृति का अलग से कोई अस्तित्व नहीं होता है। इस प्रकार अज्ञेय ने मार्क्सवाद की स्थापनाओं को सैद्धांतिक चुनौती दी।

असाध्यवीणा : काव्यार्थ

असाध्य वीणा अज्ञेय के 1961 में प्रकाशित काव्य संग्रह 'आंगन के पारद्वार' में संकलित कविता है। यह कविता अज्ञेय की एकमात्र लंबी कविता है। अज्ञेय को इसी संग्रह पर साहित्य अकादमी पुरस्कार मिला था। **प्रभाकर माचवे** ने इसी संग्रह की प्रशंसा में उनकी रहस्यवादिता के कारण अज्ञेय को आधुनिक कबीर कहा।

असाध्य वीणा अनेक दृष्टियों से अज्ञेय की प्रतिनिधि रचना है। प्रसाद के कृतित्व में जो महत्व 'प्रलय की छाया', मुक्तिबोध में 'अंधेरे में' का वही महत्व असाध्य वीणा का अज्ञेय के कृतित्व में है।

भौतिक अनुभवों का रूपान्तरण कला, कविता व आध्यात्म के सूक्ष्म स्तर पर किस तरह होता है, इसकी व्याख्या असाध्य वीणा की मुख्य समस्या है। जीवन के ठोस अनुभवों का रूपान्तरण किस तरह कला और कविता में होता है यह प्रश्न असाध्य वीणा का मुख्य सरोकार है। इस कविता में **सर्जन क्षमता की गहरी व्याख्या एवं कवि की रचना प्रक्रिया के विविध पक्षों का उद्‌घाटन** हुआ है। असाध्य वीणा केवल जीवनानुभव के कलानुभव में रूपान्तरण की व्याख्या ही नहीं करती बल्कि **रचना की अन्तर्वस्तु** और उसके **संप्रेषण** जैसे वैचारिक बिंदुओं को भी उठाती है। इसलिए असाध्य वीणा रचना प्रक्रिया व संप्रेषण के संबंध में अज्ञेय की काव्य दृष्टि को प्रस्तुत करने वाली कविता है।

असाध्य वीणा अज्ञेय की अपवाद कविता है जो इतिवृत्त पर आधारित है। असाध्य वीणा एक जापानी लोक कथा पर आधारित कविता है। वर्षों-वर्षों से असाध्य समझी जाने वाली वीणा को कलाकार कैसे साधता है और संगीत की सृष्टि करता है यह असाध्य वीणा का संक्षिप्त वृत्त है। जिस किरीटी वृक्ष (तात तरू) से इस वीणा का निर्माण हुआ है और राजसभा में बैठकर प्रियंवद नामक कलाकार कैसे बजाता है, उसी का आख्यान है। इसी इतिवृत्त के आधार पर अज्ञेय ने कई अर्थों को ध्वनित किया है-

19वीं शती के भारतीय पुनर्जागरण ने लौकिक-अलौकिक, भौतिक-आध्यात्मिक भेद को जिस तरह से मिटाना शुरू किया था उसकी सूक्ष्म स्तर पर अनुभव प्रसाद, निराला की कविताओं में किया जा सकता है। भौतिक आध्यात्मिक के द्वैत का समाहार पुनर्जागरण में शुरू हुआ। यह द्वैत रचनाप्रक्रिया में कैसे डूबता है, असाध्य वीणा इसी का आख्यान है। **अर्थ व अनुभव का अद्वैत** इस कविता का साध्य है।

अज्ञेय पर सीमित अनुभव के क्षेत्र के कवि होने का आरोप है। यह सत्य है कि अज्ञेय में भक्तिकाल तथा छायावादी कवियों की तरह विस्तार नहीं है। 'असाध्य वीणा' **इतिहास के अनुभव को क्षण में समेट लेना चाहती है एवं क्षण को इतिहासव्यापी बनाने की महत्वाकांक्षा रखती है।** यह क्षण कलाकार की रचना का क्षण है जो देशकाल में स्थित होकर भी उसका अतिक्रमण करता है। यानी यह कविता क्षण और इतिहास के द्वैत को पाटने वाली कविता है। इस कविता में क्षण व इतिहास एक दूसरे में संक्रमित होते हैं। अनादि समय अनुभव में सिमट जाता है। इतिहास में फैला समय अनुभूति के घनत्व पर संगीत के रूप में प्रकट होता है। दूसरी तरफ क्षण इतिहास के धरातल पर पसर जाता है। यह कविता इतिहास व क्षण के संबंध को विशेष रचनात्मक धरातल पर व्याख्यायित करती है।

इस कविता में अज्ञेय ने **प्रकृति जीवन की विविधता एवं** वैराट्य को प्रस्तुत किया है। प्रकृति जीवन के इस वैविध्य को किरीटी तरू ने अपने में समेट रखा है। प्रकृति का विराट वैविध्य एक पेड़ में समा गया है। उसी पेड़ से निर्मित हुई है यह वीणा। यह जीवन वैविध्य वीणा में कैसे रूपान्तरित होकर झंकृत होता है इसका वर्णन कविता में किया गया है। इसलिए अनुभावन एवं अभिव्यक्ति के अन्तर्लयन की साधना कलाकार की मुख्य समस्या है। असाध्य वीणा इस जटिल समस्या को कविता के अनुशासन में प्रस्तुत करती है। अपने अनुभव के प्रति पूर्ण समर्पण और तन्मयता के बिंदु पर वीणा झंकृत होती है।

रचना के संदर्भ में अपने को देखकर ही अपने को पाया जा सकता है। इसलिए वास्तविक जीवन संदर्भों में मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि सफलता व्यक्ति से भिन्न कोई सत्ता नहीं है। <u>सफलता कोई बाह्य सत्ता नहीं है वह व्यक्ति की साधना की परिपूर्णावस्था</u> है। इसलिए जिस संगीत को रचनाकार उपलब्ध कराता है वह बाहर नहीं है **वह रचनाकार की तन्मयता व समर्पण में छिपा हुआ** है। प्रियंवद का समर्पण दोहरा है। पहले वह ततरू को समर्पित होता है और फिर वीणा के प्रति। इस

प्रकार कलाकार के इस आत्मदान से सहसा वीणा झनझना उठी एवं संगीत अवतरित हुआ। इस संगीत की सृष्टि और उसके प्रभाव को अज्ञेय ने सामान्य जीवन से लेकर उदात्त जीवन तक चित्रित किया है। यह संगीत डुबाता सबको है पर सबकी उपलब्धि अलग-अलग है। आस्वादन का अनुभव बिल्कुल अलग-अलग है। इसका संकेत अज्ञेय यह कहकर देते हैं कि

श्रेय नहीं कुछ मेरा

. . . . . .

वह तो सब कुछ की तथता थी।

इस तरह से **कला के अनुभव वैविध्य को अज्ञेय अपने रचनादर्शन** का आधार बनाते हैं। कला प्रभावित सबको करती है लेकिन प्रभाव की प्रकृति एक सी नहीं होती। अज्ञेय स्थापित करने की कोशिश करते हैं कि **रचना से होने वाली उपलब्धि व्यक्ति सापेक्ष होती है**। रचना का कोई औसत प्रभाव नहीं होता। रचना का आस्वाद केवल रचना के पाठ पर निर्भर नहीं होता। इसमें पाठक के संस्कार, स्मृति, परिस्थिति, अनुभव और स्वप्न की भी बड़ी भूमिका होती है। **रचना में अर्थ पाठ व अनुभव के टकराव से ध्वनित होता है**। इसलिए रचना स्वयं में कोई अर्थ नहीं देती। प्रतिबिंब तभी दिखाई देता है जब आइने के सामने कोई आये। आइने का खुद का कोई प्रतिबिंब नहीं होता। सबका अनुभव विधान एक सा नहीं होता इसलिए रचना का प्रभाव भिन्न-भिन्न होता है। रचना का कोई केन्द्रीय अर्थ नहीं होता। इस तरह से यह कविता एक सैद्धांतिक बिंदू उठाती है कि **किसी भी रचना की अर्थ निष्पत्ति केन्द्र मूलक नहीं होती है**। रचना से सामाजिक परिवर्तन और क्रांति की अपेक्षा रखना एक वैचारिक दुराग्रह के सिवाय कुछ नहीं है। यह जो अनुभव-व्याप्ति है, विराट के दर्शन का आधुनिक संस्करण है।

असाध्य वीणा में अनुभव के विराट रूप का दर्शन महाकाव्यात्मक कोटि का है। अज्ञेय ने माना है कि रचना अपने में विकसनशील प्रक्रिया है। वह युग-युग के संदर्भों को आत्मसात, झंकृत करती चलती है। कविता में आदिम स्मृति व वर्तमानबोध में कोई विरोध नहीं होता। समय के वर्तमान और अतीत का फर्क मनुष्य की चेतना में मिल जाता है। इस तरह से रचना में रचनाकार के अहं का विलयन होता चलता है। रचना रचनाकार के **अहं के विलयन** का माध्यम बनती है। असाध्य वीणा एक सार्थक

रचना है। वह रचनाकार के अहं का विलयन करती है, उसका आत्मविस्तार भी। असाध्य वीणा में प्रियंवद का **आत्मविस्तार** होता है। कला की उपलब्धि है कि वह अहं के विलयन के विंदु पर घटित होती है। यह अज्ञेय के रचनादर्शन का मूल आधार है।

अज्ञेय ने इसमें यह भी संकेत किया है कि व्यक्ति का अहं विराट के प्रति समर्पित होकर उसे गतिशील बना देता है। वह ठहरी हुई झील की तरह है। निजता से असंबद्धता की स्थिति में विराट अभिमंत्रित जड़ पदार्थ की तरह रहता है। उसे गतिशील बनाने के लिए व्यक्ति की आवश्यकता है। व्यक्ति को अपनी निजता प्रमाणित करने के लिए उस विराट की आवश्यकता है। **निजता के संपर्क से विराट गतिशील होता है, विराट के संपर्क से निजता प्रमाणित होती है।** विराट की गतिशीलता व्यक्ति के निजता के प्रसंग को रचना के संदर्भ में चित्रित करती है।

विद्यानिवास मिश्र असाध्य वीणा के बारे में कहते हैं कि असाध्य वीणा **मौन से स्वर की ओर जाने की तथा स्वर से पुनः मौन की ओर लौटने की; एक ओर व्यष्टि से समष्टि में डूबने तथा समष्टि से व्यष्टि में अलग-अलग डूबने की प्रक्रिया का आख्यान है।**

असाध्य वीणा **स्मृति के पुनर्वास** की कविता है। आधुनिक सभ्यता में सबसे बड़ा विस्थापन मनुष्य की स्मृतियों का हुआ है। 20वीं सदी विस्थापन की सदी रही है और मनोवैज्ञानिकों व समाजशास्त्रियों का मानना है कि व्यक्तियों का विस्थापन केवल एक भौतिक घटना नहीं है बल्कि विस्थापन गहरे स्तर पर संस्कृति की विस्मृति की समस्या को उत्पन्न करता है। इस तरह से विस्थापन की प्रक्रिया मनुष्य की आदिम स्थानीयताओं को नष्ट करती है। मनुष्य और प्रकृति, भाषा, संबंध, जीवन-पद्धति, सौंदर्य की एक विशिष्ट दुनिया - इस विस्थापन में नष्ट हो जाती हैं। इसलिए विस्थापन की प्रक्रिया अपने समग्र प्रभाव में मानवीय जीवन को नष्ट करने की विराट प्रक्रिया है। विकास की पूरी प्रक्रिया विविधता-विरोधी है इसलिए वह स्मृति-विरोधी भी है। ऐसी आधुनिक सभ्यता की मुहिम का विरोध स्मृति के पुनर्वास के माध्यम से किया गया है। इसलिए बाजार, तकनीकी विकास, उपभोग के कोलाहल ने मनुष्य को स्मृतिहीनता में ढकेल दिया है। असाध्य वीणा स्मृतिहीनता के प्रतिरोध की कविता के रूप में भी देखी जा सकती है। कविता का केन्द्रीय भाग स्मृति से जुड़ा है -

हां मुझे स्मरण है

- - - - - - -

असाध्य वीणा की स्मृति में प्रकृति की विविधता व वैराट्य के साथ एक गहरा रागात्मक संबंध दिखाई देता है।

मार्क्सवादी आलोचकों ने असाध्य वीणा की एक **अध्यात्मवादी व्याख्या** भी की है। असाध्य वीणा में आध्यात्मिक सत्य का मूर्तिमान रूप है। इस सत्य को वज्रकीर्ति ऐसे साधक ने अपने संपूर्ण जीवन की साधना से उपलब्ध किया था। स्वयं अज्ञेय ने उसकी साधना को 'हठ साधना' कहा है।

वीणा की रचना जिस वृक्ष से की गयी है उसे 'किरीटी तरू' कहा गया है जिसका अर्थ है सभी वृक्षों का सिरमौर। यह वृक्ष अत्यंत पुराना था, ऊंचा और छतनार, अनेक कोटरों वाला और उसकी जड़ें पाताल तक पहुंची हुई थीं। जिससे अपना फण टिकाकर वासुकी नींद लिया करता था। यह भव्य वृक्ष जीवन का प्रतीक है जो एक साथ प्राचीन, उच्च, व्यापक, दृढ़ व गहन है। वीणा उसके सत्य का प्रतीक है जिसे कोई साधक लंबी साधना के बाद ही उपलब्ध कर सकता है।

यह किरीटी तरू अत्यंत विस्तृत, प्राचीन गहरा, अनकहा (वह सत्य जो अभी तक प्रकट नहीं हुआ है) साक्षी – वह व्यक्ति जो उस अनकहे सत्य को प्रकट करता है। जीवन का वह सत्य जिसे वीणा प्रतीकित करती है, वह क्या है ? जीवन का सत्य पूरे विस्तार के साथ संबंधों के तीव्र अनुभव से उद्घाटित होने वाला अनुभूत सत्य हैं वह एक ऐसी अवस्था है जिसमें अनुभव करने वाले का अस्तित्व विलीन हो जाता है। इसलिए विलयन ही इस कविता का बीज संबंध है। यह कविता **विराट व बिंदु के** अद्वैत की कविता है।

असाध्य वीणा अज्ञेय के जीवनदर्शन व रचनादर्शन को धारण करने वाली कविता है। एक लोक कथा के आधार पर रची यह कविता रचना प्रक्रिया, कला सत्य और अनुभूति की मुक्ति जैसे प्रसंगों को गहरे रचना अनुशासन बिंदु पर उठाती है। अपनी समग्रता में यह कविता अज्ञेय की वैचारिक दिशा का प्रतिनिधित्व करने के साथ ही उनकी अनुभूति क्षमता, कला अनुशासन का भी अप्रतिम उदाहरण है।

अज्ञेय की काव्यानुभूति (2)

अज्ञेय की काव्यानुभूति की बनावट में संवेग के स्थान पर बुद्धि की केन्द्रियता है। अज्ञेय के यहाँ अनुभूति की प्रक्रिया बौद्धिकता से प्रभावित होती है। विजयदेव नारायण साही के अनुसार छायावाद बुद्धि को भी भाव में रूपान्तरित करता है। अज्ञेय भाव को भी बुद्धि में रूपान्तरित करते हैं। छायावाद अनुभूति के प्रकाश में जीवन को देखता है; जब भी अनुभूति से जीवन को देखा जाएगा वहाँ स्वप्न और कल्पना की प्रधानता होगी। अतः छायावाद का पूरा रचना विधान स्वप्न और कल्पना से निर्धारित होता है।

अज्ञेय के यहाँ सौन्दर्यानुभूति और प्रेमानुभूति भी बहुत हद तक बौद्धिकता से आवेशित है।

छायावाद के ह्रास का एक मूल कारण यह था कि अनुभूतियों के कोणों से दिखाई देने वाला जीवन प्रगतिवादियों को बहुत अधूरा दिखने लगा था। प्रगतिवाद ने स्थापित किया कि समय की प्रकृति सामूहिक, वस्तुगत और औसत होती है। सत्य राजनीति, सामाजिक व आर्थिक व्यवस्था के ढांचे के भीतर है। अर्थात् प्रगतिवाद में सत्य औसत और संरचनात्मक होता है।

प्रगतिवाद के इसी दृष्टिकोण के विरोध में नई कविता की धारा का प्रतिनिधित्व अज्ञेय करते हैं। सच के औसतीकरण का जो तर्क प्रगतिवाद ने दिया, अज्ञेय ने उसका जबर्दस्त बौद्धिक प्रतिकार किया। प्रगतिवाद की मान्यताएँ : 1. सामाजिक सच के अतिरिक्त कोई सच नहीं होता क्योंकि वैयक्तिक सचों का क्षेत्र भी समाज है। 2. सभी तरह के सचों की प्रकृति ऐतिहासिक होती है। 3. अनुभव, आस्वाद और सौन्दर्यानुभूति भी वैयक्तिक नहीं होते बल्कि इतिहास और समाज की साझी संरचना द्वारा निर्धारित होते हैं।

अज्ञेय के अनुसार किसी भी समाज की प्रकृति उसमें रहने वाले व्यक्तियों से तय होती है। अतः कला एवं चिंतन पर कोई भी बात व्यक्ति के संदर्भ में ही सार्थक हो सकती है। अतः कला के आस्वादन एवं रचना प्रक्रिया के सूत्र औसत नहीं होते, बल्कि विशिष्ट होते हैं। उसमें वैयक्तिक कल्पनाशीलता एवं स्मृति की गहरी भूमिका होती है। अतः एक कृति को अलग-अलग पाठक अलग-अलग आस्वाद-बिन्दुओं पर ग्रहण करता है। इस तरह औसतपन का विरोध अज्ञेय ने किया। प्रगतिवाद के अनुसार साहित्य सामाजिक परिवर्तन एवं क्रांति का माध्यम है। अज्ञेय के अनुसार साहित्य एवं कला सामाजिक परिवर्तन का माध्यम नहीं।

अज्ञेय रचना के लिए वैयक्तिक स्वतंत्रता पर बहुत बल देते हैं। किन्तु व्यक्ति समाज से नहीं, समाज में स्वतंत्र है। अज्ञेय की काव्यानुभूति में सत्य की निजता का प्रश्न बहुत महत्त्वपूर्ण है।

अज्ञेय के अनुसार अनुभूति के संगठन की प्रक्रिया ऐतिहासिक नहीं क्षणिक होती है। वह इतिहास के तथ्य या इतिवृत्त के स्थान पर समय और रचनाकार की अनुभूति के उस सम्बन्ध पर बल देते हैं जो रचना प्रक्रिया के रूप में घटित होता है। "स्वाति की बूंद सीपी को उसी आघात से फोड़ती है जिस आघात से बिजली पहाड़ों को तोड़ देती है।" रचनाकार के अन्तःमानस में रचनात्मक अनुभूति स्वाति की बूंद की तरह प्रवेश करती है। फिर उस अनुभूति के पकने में और रचना में परिणत होने में जितना समय लग जाय किन्तु उसका उद्रेक क्षण में ही होता है। अज्ञेय ने माना कि रचना–प्रक्रिया, रचना की सार्थकता और रचना के आस्वाद पर ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में बात नहीं की जा सकती।

अज्ञेय पर यह आरोप है कि इतिहास के विरोध के माध्यम से उन्होंने परम्परा का विरोध किया। इस तरह वह काव्यानुभूति की जातीय और सांस्कृति अवधारणा को अस्वीकृत कर देते हैं। उनकी कविता की पूरी प्रकृति भारतीय न होकर योरोपीय है। समाज से खण्डित, आत्मग्रस्त, विराटता के स्पर्श से शून्य व्यक्ति पश्चिमी हो सकता है भारतीय नहीं। इस तरह अभारतीय व्यक्तित्व का आरोप है अज्ञेय पर।

मार्क्सवादी दृष्टि में आस्वाद और सौन्दर्यानुभूति की भूमिका सामाजिक होती है – जो कुछ भी सुन्दर है वह निश्चत रूप से मनुष्य के लिए उपयोगी भी है। यानि उपयोगिता किसी भी तरह के सौन्दर्य का वास्तविक केन्द्र है। इस धारणा का प्रतिकार पश्चिम में भी हुआ। जो कुछ उपयोगी है वह सब सुन्दर नहीं हो सकता। दैनिक उपयोगिताओं की परिधि से अछूता, कल्पनाओं के पंख से बाहर, मनुष्य की शक्ति को चुनौती देता हुआ जो रहस्यमय सत्ता है, वह सुन्दर है। रहस्यमयता, अलभ्यता और नितान्त नवीनता सौन्दर्य की शर्त हैं।

अज्ञेय के अनुसार सौन्दर्य एक वस्तुगत सत्ता नहीं है। उसमें भाव और बुद्धि का एक विलक्षण सन्तुलन अनिवार्य है। बुद्धि से तात्पर्य सौन्दर्य की सत्ता को ग्रहण करने वाली विवेक चेतना। अगर ग्रहण की विवेक चेतना नहीं है तो सौन्दर्य होकर भी नहीं है। सौन्दर्य की पूरी प्रकृति वैयक्तिक होती है। समाज द्वारा प्रदत्त इतिवृत्त से कला एक विशिष्ट सम्बन्ध बनाती है। एक ही समाज में सत्य निर्धारण की कसौटियां अलग–अलग हो जाती हैं। रचना में सामाजिक भूमिका एक सीमा तक हो सकती है। आस्वाद और सौन्दर्य का अतिक्रमण समाज नहीं व्यक्ति करता है।

अज्ञेय ने समाज और व्यक्ति, इतिहास और क्षण को प्रगतिवाद की स्थापित धारणाओं के विरोध में निर्धारित किया। निर्धारण का आधार भाव नहीं नैतिकता है।

असाध्य वीणा अज्ञेय के जीवन–दर्शन और रचनानुभव की प्रतिनिधि रचना है।

असाध्यवीणा का कथ्य (प्रतिपाद्य)

1. रचनानुभूति और समय का रिश्ता : समय की अखण्डता और समग्रता का बोध ही किसी भी सघन और सार्थक रचना की बुनियादी पहचान है। जीवन के बाह्य क्रिया–व्यापार समय और परिस्थितियों को निरन्तर द्वैत से जोड़ते रहते हैं। जीवन की बाहरी प्रक्रिया द्वैतों से गुजरती है; निष्प्राणता की ओर बढ़ती है। जीवन में जितना द्वैत होगा, अनुभूति उतनी निष्प्राण होगी। जहां समय की अद्वैतता की अनुभूति हो, समय के बाहरी विभाजन जहां निरर्थक हो जाय, वहां कला घटित होती है। मानवीय जीवन की आकांक्षा, स्वप्न और कल्पनाशीलता में भी समय अद्वैत हो जाता है।

प्रियम्वद अतीत में इतना डूब जाता है कि अतीत और वर्तमान में कोई फर्क नहीं रह जाता, सब कुछ घुलमिल जाता है। अज्ञेय का तर्क है कि रचनानुभूति समय के अनुशासनों और निर्देशों का अतिक्रमण करती है। इस सोच को निर्मल वर्मा ने पुष्ट किया है – कला समय और इतिहास में पैदा होकर उसका अतिक्रमण करती है। जब तक रचना समय के विभाजनों का अतिक्रमण नहीं करेगी, वह जीवन के सम्पूर्णत्व का गवाह नहीं बन पाएगी। समय के खांचों को तोड़ना, समय के स्थूलीकरण का जितना जहां विरोध होगा, वह कला उतनी ही स्थायी होगी। कला वह नहीं दिखाती जो सतह पर है, बल्कि उन स्वप्नों और आकांक्षाओं को भी उद्घाटित करती है जो हमारे भीतर छिपे होते हैं। मानवजीवन के कई अन्धेरे प्रकोष्ठ होते हैं – कला उसे उद्घाटित करती है। इस कविता में एक विराट अतीत का आकाश वर्तमान पर छाया हुआ है।

अतीत तथा वर्तमान के इस सम्बन्ध में अक्षत अनुभूति घटित होती है – संगीत का आस्वाद। यह कविता इतिहास की उस वस्तुवादी धारणा का निषेध करती है जो जीवन को बाहरी सौन्दर्य के आधार पर औसतीकरण करती है। इस तरह यह समय और रचना के सम्बन्ध बोध की कविता है।

2. असाध्यवीणा मौन से स्वर की ओर जाने और स्वर से पुनः मौन की ओर लौटने की, दूसरे शब्दों में, व्यष्टि के समष्टि में डूबने की तथा समष्टि से व्यष्टि में अलग–अलग उतरने की प्रक्रिया का आख्यान है।

व्यक्ति की सर्जनात्मकता विराट के प्रति अंतर्लयन में है। विराट से असंपृक्ति की स्थिति में व्यष्टि जीवन का कोई अर्थ, कोई संभावना, कोई दिशा नहीं होती। वैयक्तिक जीवन की संभावनाशीलता और सार्थकता विराटत्व के संपर्क से निर्धारित होती है। अगर कोई विराटत्व नहीं है

तो मनुष्य जीव है। विराट और व्यक्ति का सम्बन्धबोध मनुष्य के सांस्कृतिक अस्तित्व का बोध कराता है। वैयक्तिक जीवन की सार्थकता विराट में खो जाने में नहीं, विराट में अपनी पहचान बनाने में है। यह कविता व्यक्ति और समाज की सम्बन्धचेतना की व्याख्या करती है।

व्यक्ति की सार्थकता सामाजिकता से सम्बद्ध होते हुए उसके भीतर अपने अस्तित्व की खोज और उद्घाटन है। अस्तित्व की खोज और उद्घाटन के लिए भी विराट अनिवार्य है।

वैयक्तिक सक्रियता के बिना विराट स्वयं जड़, गतिहीन, एक जमा हुआ सन्नाटा है। एक ओर वीणा और दूसरी ओर वीणा से जुड़ा विराट (सृष्टि का प्रतीक) और दूसरी ओर प्रियम्वद, दोनों ही अपने अकेलेपन में अर्थहीन हैं। दोनों का सम्पर्क एक दूसरे के अस्तित्व को सार्थक करता है। एक दूसरे के विरोध में नहीं बल्कि परस्परता में रहकर ही रचनाशीलता की अनुभूति और प्रक्रिया सम्पादित होती है।

3. **पर्यवेक्षण** : अज्ञेय के उस काव्यदर्शन से सम्बंधित है जिसके अनुसार कविता का निर्माण अवधारणाओं से नहीं, अनुभव की सघनता से होता है। अज्ञेय के अनुसार "प्रत्येक अनुभूति का भी एक वैचारिक आधार होता है।" रचना के लिए अनुभूति की अखण्ड और निरन्तर सघनता अनिवार्य है। अनुभूति के निर्माण में स्मृति और वर्तमान का सहसम्बन्ध निर्णायक होता है। यह पूरी कविता स्मृति और वर्तमान के एक विलक्षण सम्बन्धभाव की अभिव्यक्ति है।

हाँ मुझे स्मरण है :

बदली–कौंध–पत्तियों पर वर्षा बूंदों की पटपट–।

650/400-IAS/PCS

सघन और आदिम स्मृतियों के बीच एक रचनात्मक यात्रा की तरह कविता प्रवाहित होती है। स्मृति की यह यात्रा अस्तित्व की अहन्ता को औदात्य की अनुभूति में घुला देती है। अहंकार की अनुपस्थिति के क्षणों में ही उस रचनात्मकता का स्फुरण होता है जिसे मध्य काल में भक्ति कहा गया और आधुनिक काल में सृजनशीलता। रचनात्मकता के स्फुरण के बिना वैयक्तिक और सामाजिक स्तर पर संस्कृति और संस्कार का होना असंभव है। यह कविता संस्कृति और संस्कार की प्रतिरोधी शक्तियों की पहचान करती है।

बाज़ार और सत्ता संस्थान स्मृति के निर्मूलन पर बल देते हैं। ये स्मृति को अपदस्थ करके स्मृति को महत्व देने का छल करते हैं। इनका मूल मन्तव्य स्मृति का निष्कासन है, किन्तु उसे स्थापित करने की प्रवंचनापूर्ण हरकत भी ये करते हैं।

मानव–जीवन से स्मृति के निष्कासन और निर्मूलन के माध्यम से मनुष्य के भावात्मक और सांस्कृतिक जीवन को निर्मूल करने की साजिश को इस कविता में पहचाना जा सकता है। इस कविता में स्मृति की उपस्थिति मात्र विचार के स्तर पर नहीं, बल्कि स्मृति कविता की आन्तरिक अन्विति में संगुम्फित है। ऐन्द्रिय बिम्बों के माध्यम से यह कविता स्मृति का पुनर्वास करती है। एक ऐसे ऐतिहासिक समय में जब तन्त्र की समूची ताकत स्मृति को निर्मूलित करने में संलग्न है, स्मृति के पुनर्वासन के माध्यम से यह कविता बाजार की सत्ता का प्रतिरोध करती है।

दृश्य को ग्रहण करने में जिस आत्मीयता का निर्वाह यह कविता करती है वह हमारे वर्तमान समय की एक अपवाद लेकिन आकांक्षित घटना है। वस्तुतः बाज़ार दृश्य का लालच पैदा करता है, वह दृश्य होता नहीं। बचीखुची मानवीय अनुभूतिशीलता को जहां ऐन्द्रिय बिम्ब (बाजारू) क्षरित कर रहे हैं वैसे समय में असाध्यवीणा सांस्कृतिक सुरक्षा के अंतिम आश्वासन की तरह दिखाई देती है।

यह कविता दृश्य के तथ्य को गति में पकड़ती है। इसलिए मानवीय सौन्दर्यबोध और मनुष्य के अस्तित्व बोध एवं रचनाशीलता को संभव बनाने वाली विराट रहस्यमय प्रकृति को स्मृतियों के माध्यम से स्वायत्त करती है। विराट के स्वायत्तीकरण में ही रचनाशीलता सौन्दर्यानुभूति और मूल्यचेतना की प्रक्रिया घटित होती है।

पूरी हिन्दी कविता की स्मृतियों के संक्षिप्तीकरण या सारांश की कविता नहीं है यह, बल्कि स्मृति के डिटेल की कविता है। प्रत्येक युग का रचनाशील मनुष्य अपने समय के प्रति नायकों का इसी स्मृति के द्वारा ऊर्जा ग्रहण करके प्रतिरोध करता है।

इसकी आस्वाद प्रक्रिया इतिवृत्त से अलग, स्मृतियों के उस विस्तार में है, जहां दृश्य और ध्वनियों की विलक्षण योजनाएं की गई हैं।

यह कविता वैसे जीवन–दर्शन को चिह्नित करती है जिसके अनुसार एक ज़िन्दगी वह होती है जिसे हम जीते हैं और जानते हैं। सांसारिक और सामाजिक गतिविधियों से बंधी हुई ज़िन्दगी। मगर इस ऊपरी ज़िन्दगी के बावजूद एक और ज़िन्दगी होती है जो हमारे भीतर गुज़रती है – कला का आस्वाद इसी आधार पर होता है। अनाम और अक्षत निर्जनता के सन्नाटे में गुजरती हुई पहाड़ी नदी की तरह इस ज़िन्दगी में बहुत कुछ ऐसा होता है जिसे कहा नहीं जा सकता, जिसका वर्णन संभव नहीं। इस अनकही ज़िन्दगी के उद्घाटन का नाम ही रचना है। रचना मान लिए गए सत्यों में संशय पैदा करती है। वह जीवन के विराट कम्पनों का साक्षात्कार कराती है।

असाध्यवीणा कला की मार्क्सवादी चेतना का प्रबल रचनात्मक और वैचारिक प्रतिवाद है।

शिल्प :

किसी भी अनुभव, विचार या अनुभूति को मूर्त करने वाले उपकरणों को शिल्प कहा जाता है। अनुभव और विचार अमूर्त हाते हैं। वे अभिव्यक्ति की प्रक्रिया में मूर्त होते हैं। शिल्प की बुनियादी आधार भाषा है। भाषिक व्यापार का ही दूसरा नाम है कवि-कर्म। अनुभूति और विचार तभी प्रामाणिक हो पाते हैं जब भाषा की व्यवस्था के भीतर लाए जाते हैं। कविता-भाषा और जीवन की भाषा में बुनियादी फार्क है। जीवन की भाषा का मूल प्रयोजन सूचनात्मक होती हैं, काव्य भाषा सूचना के प्रायोजन का अतिक्रमण करती हुई पाठक को विचार, अनुभूति, स्मृति और कल्पना की दुनिया में ले जाती है। इसलिए काव्य भाषा की चुनौतियां व लक्ष्य अलग हो जाते हैं। अभिव्यक्ति के सौन्दर्य की भी अपेक्षा की जाती है काव्य भाषा में। स्मृति, कल्पना और अनुभूति से आवेशित होने के कारण उसकी प्रकृति बदल जाती है। यह काव्य भाषा अनेक माध्यमों का सहारा लेती है। इन माध्यमों में बिम्ब, प्रतीक, छन्द, उपमान योजना, काव्यरूप।

असाध्यवीणा का शिल्प

एक विचार के अनुसार शिल्प प्राथमिक है, दूसरी विचारधारा में शिल्प माध्यम है। मार्क्सवादी विचार के अनुसार प्रत्येक विचार अपने साथ शिल्प लेकर आता है। नई समीक्षा के अनुसार रचनाकार की वास्तविक समस्या अनुभूति की नहीं शिल्प की है।

सभी लोग गरीबी देखते हैं, लेकिन सब कवि नहीं होते। अगर अनुभव के साथ ही शिल्प आ जाता तो सब कवि हो जाते। अज्ञेय के अनुसार शिल्प से अलग कोई काव्यानुभूति नहीं होती। काव्यानुभूति का ग्रहण शिल्प के बिन्दु पर ही हो पाता है। रचनाकार की बेचैनी, चुनौती और रचना प्रक्रिया की सार्थकता शिल्प से संदर्भित है। शिल्प संप्रेषण और आस्वादन की प्रक्रिया है अज्ञेय के यहां। अज्ञेय के अनुसार प्रत्येक कविता एक घटना है। ऊपर से वह घटना दिखाई नहीं देती। घटना है तो उसमें एक कथानक है। कविता रचना प्रकारान्तर से कथानक की रचना है, कोई भी कवि किसी भी कविता के भीतर कथानक को कैसे घटित करता है - यही शिल्प की समस्या है। इसलिए अज्ञेय के अनुसार

जब तक कवि शिल्प को अर्जित नहीं कर लेता तब तक अनुभूति का कोई भी अर्थ रचना के स्तर पर नहीं होता। इसलिए अनुभूति की नवीनता भी शिल्प की ही नवीनता है।

भाषा

कविता में शिल्प भाषा के द्वारा आयोजित होता है। अज्ञेय के यहां कविता भाषा से नहीं, शब्द से बनती है। उनके यहां कविता एक शाब्दिक रचना है। अज्ञेय के शब्दों में, **"काव्य सबसे पहले शब्द है और सबसे अन्त में भी यही बात बच जाती है कि काव्य शब्द है।"** सारे कवि कर्म इसी परिभाषा से निःस्तृत होते हैं। इसलिए अज्ञेय के शिल्प विधान में शब्द अनुभूति को वहन करने के माध्यम भर नहीं बल्कि उसके निर्णायक तत्व हैं। कवि शब्द के माध्यम से अनुभूति को पकड़ता है। अतः शब्द का संस्कार जिस कवि में जितना गहरा और मूल्यवान होगा, उस कवि की अनुभूति भी उतनी गहरी व मूल्यवान होगी।

असाध्यवीणा की भाषिक संरचना अज्ञेय के शब्द-संस्कार और शब्द-प्रयोग के विवेक की अप्रतिम रचना है। इस कविता की भाषिक संरचना में कथन की अभिधात्मकता से लेकर अनुभूति की लगभग निर्गुण सूक्ष्मता तक को पकड़ने की क्षमता दिखाई देती है। भाषिक प्रयोग अनेक स्तरों पर क्रियाशील :

आ गए प्रियम्वद ! केशकम्बली ! गुफागेह।
राजा ने आसन दिया। कहा :
कृतकृत्य हुआ मैं तात ! पधारे आप।

बेहद बारीक अनुभूतियों को साधने की क्षमता। "ओस बिन्दु की ढरकन इतनी कोमल, तरल कि मानो झरते-झरते मानो हारसिंगार का फूल बन गई।"

मौन को अभिव्यंजित करने वाली स्थितियों को भी नियोजित किया गया है :

अवतरित हुआ संगीत
स्वयम्भू
जिस में सोता है अखण्ड

ब्रह्मा का मौन
अशेष प्रभामय।

यहां संगीत में छिपे मौन को शब्द में पकड़ने की कोशिश है। पूरी कविता का शब्द विन्यास तत्सम और तद्भव के विलक्षण और विस्मयकारी सम्बन्धविधान से अनुशासित है।

रामस्वरूप चतुर्वेदी के अनुसार - अज्ञेय तद्भव के कवि हैं। किन्तु असाध्यवीणा में तत्सम और तद्भव एक दूसरे में संगुम्फित हैं। तत्सम और तद्भव की रचनात्मक फलश्रुति है यह कविता।

तद्भव : बटुली में बहुत दिनों के बाद अन्न की सोंधी खुदबुद।
किसी एक को नयी वधू की सहमी सी पायल-ध्वनि।।

तत्सम : सुना आपने जो वह मेरा नहीं
न वीणा का था
वह तो सब कुछ की तथता थी
महाशून्य
वह महामौन अद्रवित
अविभाज्य, अनाप्त, अप्रमेय
जो शब्दहीन
सब में गाता है।

उत्कर्ष क्लासेज (रजि०) IAS 100 IAS/PCS

बिम्ब :

अज्ञेय को बिम्बों और प्रतीकों का कवि कहा गया है। रचनाकार का विषय अगर सामाजिक सरोकारों से जुड़ा हुआ है तो कविता की प्रकृति कथनात्मक होती है। रचनाकार जब अनुभूति की बारीकी में उतरता है तो भाषा का अभिधात्मक ढांचा अपर्याप्त हो जाता है। कविता में बिम्ब और प्रतीक का प्रयोग अभिधात्मक अपर्याप्तता की पूर्ति के लिए किया जाता है। अनुभव की गहनता और जटिलता की प्रभावशाली अभिव्यक्ति के लिए बिम्ब और प्रतीक महत्वपूर्ण उपकरण हैं। अज्ञेय सपाटता के कवि नहीं हैं। उनमें नाटकीयता और सपाटबयानी का भी अभाव है। इसलिए बिम्बों, प्रतीकों के माध्यम से अनुभूति

की संश्लिष्टता को अभिव्यक्ति देने की कोशिश करते हैं। बिम्ब अनुभव का प्रमाण, अनुभव का साक्ष्य है। वैचारिक कविता बिम्ब धर्मी नहीं होती।

अज्ञेय की कविता में बिम्ब अपनी जटिलता और ऐन्द्रिकता के साथ उपस्थित है। असाध्य वीणा बिम्ब विधान की दृष्टि से नई कविता की अप्रतिम रचना है। समूची कविता स्मृति के आलोक में प्रकृति और सृष्टि के स्थूल और सूक्ष्मतम हरकतों को बिम्ब के स्तर पर मूर्त करती है। यह बिम्ब की कविता है। सम्पूर्ण कथ्य की अभिव्यक्ति बिम्बों के माध्यम से हुई है। **गति और जड़ता, संगीत और सन्नाटा, रंग और रंगहीनता** के अनेक परस्पर विरोधी प्रसंगों को यह कविता अपनी बिम्ब योजना से अनुशासित करती है।

ध्वनि बिम्ब : हां मुझे स्मरण है :
बदली-कौंध-पतियों पर वर्षा-बूंदों की पटपट।
घनी रात में महुए का चुपचाप टपकना।

कई बार ध्वनि बिम्बों को दृश्य के साथ मिलाया गया है :

हाँ मुझे स्मरण है :
दूर पहाड़ों से आते मेघों की बाढ़
हाथियों का मानों चिंघाड़ रहा हो यूथ।

गति बिम्ब : प्रत्यक्ष और सूक्ष्मतम अनुभूतियों से संयुक्त हैं।

मुझे स्मरण है :
उझक क्षितिज से
किरण भोर की पहली
जब पहली तकती है ओस-बूंद को
उस क्षण की सहसा चौंकी-सी सिहरण।

जड़ता के बिम्बों से सजी पड़ी है यह कविता :

मुझे स्मरण है :
और चित्र प्रत्येक

स्तब्ध, विजड़ित करता है मुझको।

इस कविता के बिम्बविधान में सामान्य और व्यावहारिक जीवन के प्रसंगों को महत्व दिया गया है। शिशु की किलकारी, जाल में फंसी मछली की तड़पन, मुक्त नभ में उड़ती चिड़िया की चहक, मंडी की ठेलमठेल, बटुली में बहुत दिनों के बाद अन्न की सौंधी खुदबुद, किसी एक को नई बहू की सहमी सी पायल ध्वनि जैसे असंख्य बिम्बों का चुनाव मानवीय जीवन के औसत परिदृश्य के भीतर से किया गया है।

यह कविता अनुभूति, स्मृति और सतह पर गुजरती हुई औसत जिन्दगी के विस्तार के भीतर से अपने बिम्बों का चुनाव करती है।

प्रतीक :

प्रतीक का लक्ष्य शब्द की अर्थक्षमता का विस्तार है। वस्तुतः प्रतीकों के माध्यम से शब्दों में अर्थ के आवर्त पैदा किए जा सकते हैं। प्रतीक शब्द के स्मरणात्मक अर्थ को एक गति देता है, शब्द की अर्थ-दिशाओं में विस्तार करता है। शब्द को एक कलात्मक संस्कार और अर्थ-संसार की क्षमता से समृद्ध करता है।

प्रतीकों को पर्याप्त महत्व देते हैं अज्ञेय : **'कोई भी स्वस्थ काव्य प्रतीकों की, नए प्रतीकों की सृष्टि करता है और जब ऐसा करना बन्द कर देता है तब जड़ हो जाता है या जब जड़ हो जाता है तब वैसा करना बन्द करके अपने पुराने प्रतीकों पर ही निर्भर करने लगता है।'** स्वस्थ काव्य से अज्ञेय का तात्पर्य है - सर्जनात्मक, संप्रेष्य और प्रामाणिक। कविता का जीवित होना उसकी प्रतीक-योजना की क्षमता पर निर्भर करता है। अपने प्रतीकों के द्वारा अज्ञेय ने नई कविता के अर्थ संसार को एक नई अर्थवत्ता दी है।

अधिकांश प्रतीक **'व्यक्ति और समाज'** की सत्ता से संदर्भित हैं। वह प्रायः अपनी कविताओं में 'यौन प्रतीकों' का भरपूर इस्तेमाल करते हैं। बूंद, सागर, मछली, द्वीप, दीप अज्ञेय के चर्चित प्रतीक हैं।

असाध्य वीणा की प्रतीक-योजना इस कविता की अखण्डित संरचना से संदर्भित है। इसका कथ्य भी प्रतीकात्मक है। **वीणा** कला का प्रतीक है, **प्रियम्वद** कलाकार मात्र का। पूरी कविता का अर्थ कविता की संश्लिष्ट रचना प्रक्रिया से संदर्भित है। इसकी प्रतीकात्मकता इस तथ्य की ओर संकेत करती है कि रचना प्रक्रिया में अपने अस्तित्व की शून्यता का बोध स्मृति की निर्मल पारदर्शिता और विराट के साथ पूर्ण तादात्म्य भाव कविता की रचना प्रक्रिया को निर्धारित करते हैं। समूची कविता रचना को संभव बनाने वाली अमूर्त प्रक्रिया का आख्यान है।

यह रचना प्रक्रिया के दार्शनिक अनुषंगों की एक काव्यात्मक व्याख्या है।

कविता के मूल प्रतिपाद्य को एक संपूर्ण प्रतीक के माध्यम से व्यंजित करती है। इसलिए असाध्य वीणा का अर्थ है - **सर्जनात्मक निष्पत्ति की यात्रा।**

छन्द योजना :

कविता में छन्द का होना उसकी संप्रेषणीयता के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण है। रविन्द्रनाथ के अनुसार, छन्द सृष्टि के भीतरी संगीत के साथ एक तादात्म्य है, वह हृदय का नर्तन है। नई कविता छन्द को व्यावहारिक स्तर पर अस्वीकार करती है। छन्द के स्थान पर लय को स्थापित करती है। अज्ञेय ने लिखा है, **'अगर मैं छन्द में नहीं लिखता तो यह मेरी उपलब्धि नहीं, सीमा है।'**

निराला ने छन्दमुक्ति पर बल दिया था। छन्द की मुक्ति को कविता की मुक्ति माना। प्रत्येक अनुभूति की अपनी एक छान्दिक योजना हो सकती है। नई कविता ने मुक्तछन्द को भी अस्वीकार कर दिया था। व्यावहारिक स्तर पर अज्ञेय छन्द का प्रयोग नहीं करते, लय पर जोर देते हैं।

असाध्यवीणा का अज्ञेय की रचनाशीलता में विशिष्ट स्थान है। इसमें द्विवेदी युगीन छन्द की तुकान्तता से लेकर नई कविता की लय-योजना तक का प्रयोग दिखाई देता है। तुकान्तता की दृष्टि से :

कृतकृत्य हुआ मैं तात ! पधारे आप।

लय : तू उतर वीन के तारों में . . . .

अपने से गा

अपने को गा
अपने खगकुल को मुखरित कर
तू गा तू गा . . . . .

इस कविता का विन्यास गद्य के संस्कारों के अनुसार नहीं बल्कि लय और छन्द की संस्कारिक चेतना के द्वारा हुआ है। इसलिए इस कविता की प्रक्रिया गद्यात्मक नहीं है। लय पर अत्यधिक बल है। कथन के ठहराव की तुलना में उसकी गति को महत्व देती हुई प्रतीत होती है।

उपमान योजना :

कविता की नवीनता बहुत हद तक उसकी उपमान योजना पर निर्भर करती है। जब उपमान मैले हो जाते हैं तो अनुभव की ताजगी की सुरक्षा-संभव-नहीं होती। उपमानों की नवीनता के पर्याय के रूप में अज्ञेय कविता की नवीनता को पहचानते हैं।

उत्प्रेक्षा : ओस बिन्दु की ढरकर - इतनी कोमल, तरल
कि झरते-झरते मानो
हरसिंगार को फूल बन गयी।
और सांझ को
जब तारों की तरल कंपकंपी
स्पर्शहीन झरती है
मानो नभ में तरल नयन ठिठकी
निःसंख्य सवत्सा युवती माताओं के आशीर्वाद
उस सन्धिनिमिष की पुलकन लीयमान।

उपमा : सहसा वीणा झनझना उठी - संगीतकार की आंखों में ठंडी पिछली ज्वाला सी झलक गयी - रोमांच एक बिजली सा सबके तन में दौड़ गया।

उपमा और उत्प्रेक्षा : दूर पहाड़ों से काले मेघों की बाढ़
हाथियों का मानो चिंघाड़ रहा यो यूथ।

काव्य रूप :

असाध्य वीणा सबसे लम्बी रचना है अज्ञेय की। अज्ञेय की एक महत्वपूर्ण विशेषता है इनकी लघु कविता। उन्हीं के शब्दों में **'छोटी कविता को महत्व भी देता हूं, यह भी मैं मानता हूं कि भावना प्रधान कविता छोटी ही हो सकती है, नहीं तो अपने भावों का पैराफ्रेज होने लगता है।'**

असाध्य वीणा का बाह्य विधान लम्बी कविता का है, आख्यान की तरह दिखाई देती है। लेकिन विद्यानिवास मिश्र के अनुसार सतही रूप में आख्यान काव्य होते हुए भी यह भीतरी स्तर पर 'गीतिकाव्य' है। क्योंकि इसमें कहानी एक व्याजमात्र है। मूल प्रतिपाद्य समष्टि के ध्यान में व्यष्टि का विलयन और उस विलयन के द्वारा समष्टि का व्यष्टि में अलग-अलग प्रतिबिम्बन है। इस प्रक्रिया के घटित होने में भावप्रवणता का दबाव बढ़ता चला गया है। यह विराट के साथ गहन रागात्मक संबंध की कविता है। इसमें बहुत कम वक्तव्य है। सृष्टि की हरकतों को बहुत डिटेल में देखा गया है, यह देखने की तन्मयता का दस्तावेजी आख्यान है। सुनना और देखना दोनों रागात्मक सम्बन्ध हैं। इसलिए लम्बी होते हुए भी अनुभव को गति, अन्विति और राग की सघनता पर धारण करती है। इसलिए इसका आन्तरिक विधान गीतात्मक है। कह सकते हैं कि असाध्य वीणा नई कविता की शिल्प चेतना का एक अविस्मरणीय प्रतिमान है और हिन्दी कविता की एक उपलब्धि भी।

-000-

ब्रह्मराक्षस

1. परिचय
2. काव्यानुभूति
   - सरलार्थ
   - आलोचना
3. बनावट : काव्यशिल्प
   - भाषा
4. ब्रह्मराक्षस
5. ब्रह्मराक्षस का शिल्प
   - भाषा
6. अर्थ संरचना के स्तर पर ब्रह्मराक्षस की तीसरी उपस्थिति
   - बिम्ब

ब्रह्मराक्षस-1

मुक्तिबोध

परिचय

मुक्तिबोध छायावादोत्तर हिन्दी कविता के शिखर कवियों में से एक हैं। छायावादोत्तर हिंदी कविता दो ध्रुवों प्रगतिवाद एवं नयी कविता का आधार लेकर चलती है जिसमें एक छोर पर मुक्तिबोध हैं तो दूसरे छोर पर अज्ञेय। डा0 नामवर सिंह कहते हैं कि मुक्तिबोध की विशिष्टता इस बात में हैं कि वे अपने पूरे परिवेश के संदर्भ में स्वयं को जानने, समझने, बदलने की ईमानदार कोशिश करते हैं। इसलिए मुक्तिबोध की कविता महज यथार्थ के चित्रण की कविता नहीं है। ये कवितायें एक कवि के आत्मसंघर्ष एवं व्यक्तित्वांतरण के तनाव की कविता भी हैं। आत्मबोध एवं 'व्यक्तित्वांतरण' मुक्तिबोध की केन्द्रीय रचना समस्या है।

हिंदी के प्रगतिवादी आंदोलन के दौरान यह प्रश्न उठाया गया कि साहित्य किसके लिए। उसका उत्तर भी दिया गया कि साहित्य का लक्ष्य तथा उसका केन्द्रीय सरोकार समाज है। लेकिन प्रगतिवादी कविता में समाज के सामान्य रूप को ही महत्व देने के कारण। व्यक्ति विशेष उपेक्षित हुआ। सार्वजनिक उत्साह में लोग यह भूल गये कि जिस सजीव इकाई को बदलना है वह बहुत जटिल तथा नाजुक सत्ता है। इसलिए इस कविता में समाज की बात बहुत की गयीं लेकिन स्वयं पर रोशनी डालने का कोई प्रयास नहीं किया गया। निगाहें दूसरे पर डाली गयीं लेकिन अपने भीतर नहीं। एक ऐसे समय में मुक्तिबोध की कविता जगतबोध के बीच आत्मबोध का प्रश्न उठाती है। सामाजिक परिवर्तन की आंधी में मुक्तिबोध ने आत्ममूल्यांकन, आत्मसंघर्ष तथा आत्मस्वीकृति के प्रश्न को कविता में शामिल किया। नामवर सिंह कहते हैं कि यह आत्मसंघर्ष कविता के क्षेत्र में एकदम नया स्वर है। जगतबोध की प्रामाणिकता आत्मबोध से ही निर्धारित होती है।

काव्यानुभूति

मुक्तिबोध ने **जगतबोध तथा आत्मबोध के विभाजन को दायित्व बोध के बिंदु पर संगठित** किया। इस आत्मसंघर्ष व आत्मस्वीकृति ने उनकी कविता को आत्मीयता प्रदान की। इसीलिए उनकी **रचना समस्या सामाजिक यथार्थ के साथ इस यथार्थ के परिवर्तन में व्यक्ति की भूमिका से जुड़ी** है। उनके आत्मसंघर्ष का एक कारण और है कि वे अपनी कविता एवं जीवन में भी आस्था का कोई निश्चित केन्द्र नहीं बनाते। मार्क्सवाद के आधार पर उन्होंने अपना इतिहासबोध विकसित किया है लेकिन उनकी कविता मार्क्सवादी सिद्धांतों का काव्यात्मक अनुवाद नहीं है। विचारधारा और जीवन के अन्तराल से उपजा तनाव उनकी कविताओं में आद्यन्त व्याप्त है। इसलिए मुक्तिबोध ने अपनी कविताओं में सामाजिक परिवेश के बीच अपने व्यक्तित्व के पुनर्निर्माण का प्रश्न उठाया। उनकी कुछ चर्चित कविताओं में 'डूबता चाँद कब डूबेगा, मेरे सहचर मित्र', 'कल जो हमने चर्चा की थी', 'चाँद का मुँह टेढ़ा है', और 'अंधेरे में' हैं।

उत्कर्ष क्लासेज IAS/PCS

'अंधेरे में' मुक्तिबोध के आत्मसंघर्ष की सशक्त कविता है। मुक्तिबोध की कविता का मूल आधार द्वन्द्व है, संदेह, संशय, प्रश्न इस द्वन्द्व की परिणतियाँ हैं। मुक्तिबोध की धारणा है कि अपने रचनात्मक प्रयत्न को आकार व महत्व देने के लिए कवि के पास एक निश्चित विचार प्रणाली या वैचारिक व्यवस्था होनी चाहिए। यह विचारप्रणाली अपनी भावना व अनुभव की अभिव्यक्ति के लिए अपेक्षित है। इस विचारप्रणाली के बिना अमूर्तन, लक्ष्यहीनता पैदा होती है। यह विचार व्यवस्था ही इतिहास समाज एवं स्वयं को समझने की दृष्टि देती है। मुक्तिबोध के लिए यह विचार व्यवस्था मार्क्सवाद थी। इसलिए मुक्तिबोध की कविता की रचना प्रक्रिया और उसकी अर्थमीमांसा मार्क्सवादी विचार व्यवस्था से ही संभव है।

मुक्तिबोध की रचना समस्या केवल यथार्थ के चित्र की नहीं बल्कि **स्वयं को वर्गांतरित** (मध्य वर्ग से निम्न वर्ग में बदलने) करने की है। मुक्तिबोध का आत्मसंघर्ष आध्यात्मिक नहीं है बल्कि वह नैतिक व राजनीतिक है। मुक्तिबोध के आत्मसंघर्ष में भारत के मध्यवर्गीय व्यक्ति की नैतिक चेतना

मौजूद है। मुक्तिबोध जिस दौर के रचनाकार थे उसमें अभी स्वाधीनता आंदोलन के मूल्य हल्के-हल्के बचे हुए थे। इसलिए नेहरू युग का शासनकाल इस आत्मसंघर्ष की पीठिका है।

मुक्तिबोध की रचनाओं की दुनिया बेहद जटिलमयी, रहस्यमयी एवं उबड़-खाबड़ है। मुक्तिबोध कहते हैं कि **"मैं जिस दुनिया में प्रवेश करता हूं वह स्वप्न कथा का ही एक रूप है। वह एक विशाल उपन्यास है। वह एक चित्रकथा है। उसमें कितने ही मनोहर व सुकुमार, भयंकर और विशालपूर्ण दृश्य हैं।"**

मुक्तिबोध की रचनायें एक जासूसी और भूतैले फिल्म के संगठन की कवितायें हैं। उसमें सूनी बावड़ियां, वीरान इलाके, भय पैदा करने वाले सन्नाटे, कर्फ्यू व मार्शल लॉ जैसी भयंकारी स्थितियों की सघनता है।

मुक्तिबोध की कविता मात्र विचारधारा की नहीं, विचारधारा का प्रयोग यथार्थ को समझने एवं बदलने के लिए प्रयोग करती हैं। यथार्थ को बदलने के लिए स्वयं को बदलना होगा। मुक्तिबोध की कविता मध्यवर्गीय सुविधाओं व संस्कार से मुक्ति की कविता है। यह मुक्ति ही मुक्तिबोध की आधारभूत रचना समस्या है। मध्यवर्गीय चेतना को केन्द्र में रखकर मुक्तिबोध ने कई कवितायें रची हैं। 'ब्रह्मराक्षस' उनकी चर्चित कविताओं में से एक है।

सरलार्थ :

यह कविता दो खंडों में बंटी हुई है। पहले खंड में ब्रह्मराक्षस एवं उसका बाहरी परिवेश है। लोकमान्यता के अनुसार वह ब्राह्मण जिसकी इच्छा अधूरी रह गयी हो तथा वह अकाल मृत्यु का शिकार हुआ हो, ब्रह्मराक्षस बनता है। शहर से दूर परित्यक्त सूनी बावड़ी, मनहूसियत से भरा हुआ निर्जन व सुनसान वातावरण है। बावड़ी में बहुत घना अंधेरा है, उसमें बहुत पुराना पानी है, बावड़ी की सीढ़ियां जल में बहुत नीचे तक चली गयी हैं। बावड़ी के चारों ओर गूलर पेड़ की शाखायें हैं, जिस पर घुग्घुओं के घोंसले हैं। वातावरण में हरियाली है, सफेद व लाल फूल खिले हुए हैं। इसी निर्जन व सन्नाटे वाले वातावरण के बीच एक ब्रह्मराक्षस बैठा है। कविता में मुक्तिबोध ने कहा है कि ब्रह्मराक्षस की बड़बड़ाहट एवं उसका प्रलाप बाहर सुनाई पड़ रहा है। यह ब्रह्मराक्षस पापबोध से ग्रस्त है। इस

पापबोध का आधार है **उसके ज्ञान का उपयुक्त पात्र तक न पहुंच पाना।** यह पूरी कविता ब्रह्मराक्षस के इसी पापबोध का आख्यान है। इस पापबोध से स्वयं को मुक्त करने के लिए अपनी देह घिसता है, पचास बार स्नान करता है, फिर भी यह पापबोध समाप्त नहीं होता।

कविता के दूसरे खंड में इस पापबोध के कारण तथा इससे मुक्त न हो जाने की छटपटाहट के कारण वह आक्रोश से गालियां बकता है। पापबोध से ग्रस्त एक व्यक्ति के मनोवैज्ञानिक स्वरूप का चित्रण इस खंड में है। उसके मस्तक पर आकाश के चमकते तारों के समान चिंता की है। उसकी संवेदना स्याह है। संवेदना में चमक व प्रभाव तब आती है जब उसका कर्म के साथ सामंजस्य हो।

ब्रह्मराक्षस की आत्मग्रस्तता को उसकी वर्तमान मानसिकता के माध्यम से रेखांकित किया गया है। ब्रह्मराक्षस बहुत ज्ञानी है। उसके ज्ञान का फलक अत्यंत व्यापक है। कविता में बीस पंक्तियों में उसके ज्ञान के व्यापकत्व की सूचना है। सुमेरी, बेबीलोनी कथाओं से लेकर वैदिक ऋचाएं तक ब्रह्मराक्षस को कंठस्थ हैं। वह आधुनिक दार्शनिकों एवं चिंतकों से भी अवगत है। वह इन दार्शनिक चिंतकों के सिद्धांतों, सूत्रों की व्याख्या करता है।

उसकी ज्ञान साधना का कोई सामाजिक लक्ष्य नहीं है। उसके श्रोता गूलर के पेड़ और वाचक हैं। ब्रह्मराक्षस अपने ज्ञान को ऐसे प्रतीकों से व्यक्त करता है जो दुर्बोध हैं। अपने परिवेश से कटे होने के कारण ब्रह्मराक्षस के पास ऐसी कोई अभिव्यक्ति नहीं है जिसके माध्यम से वह संवाद स्थापित कर सके।

ब्रह्मराक्षस ज्ञान-दंभी है। ज्ञान जब सामाजिक चरितार्थता खो देता है तो अहंकार पैदा करता है। ज्ञान की सार्थकता का आधार समाज है। जब वह व्यक्ति की स्मृति का माध्यम बनता है तो वह अहंकार बनता है। व्यक्ति के ऐसे ज्ञान की कोई उपयोगिता, सार्थकता नहीं है। अहंकार बहुत सारे भ्रमों को जन्म देता है। ब्रह्मराक्षस को भी भ्रम है कि सूर्य, चाँद, आकाश, तारे सभी उसके ज्ञान के आगे नतमस्तक हैं।

कविता के दूसरे खंड में ब्रह्मराक्षस के आंतरिक लोक में झांकने की कोशिश की गयी है। ब्रह्मराक्षस का व्यक्तित्व एक स्फटिक प्रासाद के समान है। उस प्रासाद में एक जीना है जिस पर अंधेरा

हैं। ब्रह्मराक्षस इस पर लगातार चढ़ता है, उतरता है, फिसल कर घायल हो जाता है। अंततः मंजिल पर न पहुंच पाने की विफलता हाथ लगती है। यह विफलता भी अच्छी है क्योंकि इसके पीछे आत्मसंघर्ष है। ईमानदार संघर्ष में मिली विफलता भी मूल्यवान है जबकि बिना ईमानदार संघर्ष के मिली सफलता भी बेमूल्य है।

सुबह होने से तात्पर्य पूरब की तरफ है। युग बदलता है। धर्म का वर्चस्व स्थापित होता है, भावनाओं व जीवन मूल्यों का कोई अर्थ नहीं है। व्यक्ति का मन विभाजित है, भावना व कर्म के बीच का सामंजस्य नष्ट हो चुका है। इस तरह से इस नये युग में ब्रह्मराक्षस अपने भावना, तर्क एवं कार्य में सामंजस्य नहीं बैठा पाया। इसके कारण उसके अंदर एक नयी मानसिक अंशांति पैदा होती है एवं वह भटकता है। इस तरह गहरी यातना व भटकाव प्रक्रिया में ब्रह्मराक्षस के प्राण उड़ जाते हैं।

वाचक (कवि) कहता है कि मैं इस त्रासदी का कारण जानता हूं। ब्रह्मराक्षस जिस बिंदु को छोड़ दिया उसे समाधान तक वाचक पहुंचाता है। वह कहता है कि मैं ब्रह्मराक्षस का शिष्य बनना चाहता हूं ताकि उसकी लायी हुई समस्या का निदान कर सकूं।

आलोचना : ब्रह्मराक्षस कविता के भाष्य के संबंध में विद्वानों में विभिन्नताएं हैं। विद्वानों का एक वर्ग मानता है कि ब्रह्मराक्षस मुक्तिबोध का अपना ही बिंब है। **श्रीकांत वर्मा** कहते हैं कि मुक्तिबोध ने जिस तरह का अभिशप्त एवं निर्वासित जीवन जिया उसकी पीड़ा ब्रह्मराक्षस ही समझ सकता है। सच्चाई यह है कि मुक्तिबोध स्वयं ब्रह्मराक्षस थे और ब्रह्मराक्षस का शिष्य भी।

विद्वानों के एक अन्य वर्ग का मानना है कि ब्रह्मराक्षस की व्यथा-कथा मुक्तिबोध की जीवन कथा है जिसमें सफलता के स्थान पर एक भव्य विफलता है। अभिशप्त ब्रह्मराक्षस का सहृदय शिष्य बनने की कामना करने वाले मुक्तिबोध की ट्रेजडी एवं ब्रह्मराक्षस की ट्रेजडी में अद्भुत समानता है।

कृष्णमुरारी मिश्र ब्रह्मराक्षस को जयशंकर प्रसाद का आभ्यांतरिक रूप मानते हैं। इसलिए यह कहा गया है कि प्रसाद ब्रह्मराक्षस के रूप में अंतस्थल में स्थित हैं। कवि ने अपने अंतस में विद्यमान इसी ब्रह्मराक्षस का शिष्यत्व ग्रहण किया है ताकि उसकी साधना को पूर्ण निष्कर्ष तक पहुंचा पाए।

Allegory

कुबेरनाथ राय कहते हैं कि ब्रह्मराक्षस कोई बाह्य सत्ता नहीं है। बल्कि यह जातीय संस्कारों की समष्टिबोधक संज्ञा मात्र है एवं उसमें जो बावड़ी है वह इतिहास का मन है। इतिहास मन में भारतीय मनुष्य की पीड़ा, वेदना, छटपटाहट प्रतीकित है।

इन अनेक व्याख्याओं के साथ सर्वथा उपयुक्त व्याख्या है कि **ब्रह्मराक्षस स्वातंत्र्योत्तर भारतीय चेतना का पाप प्रतीक है।** उसके चरित्र, व्यक्तित्व में मध्यवर्गीय चेतना के पुष्ट प्रमाण दिखाई देते हैं! इसलिये ब्रह्मराक्षस मध्यवर्ग का प्रतीक है।

ब्रह्मराक्षस की पापचेतना का सामाजिक ऐतिहासिक आधार क्या है ? ब्रह्मराक्षस मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी का एकांत है। यह निर्लिप्तता, निस्संगता, एकांत का भूगोल है। इसी निर्लिप्तता; निस्संगता में ब्रह्मराक्षस घिरा हुआ है। इस कविता में भारतीय समाज के मध्यवर्ग की ऐतिहासिक बनावट की तरफ संकेत है। यह मध्यवर्ग जीवन की मुख्यधारा से कटा हुआ आत्मलिप्त है। ब्रह्मराक्षस पापचेतना से ग्रस्त है। यह कविता आधुनिक भारत के इतिहास के उस दौर की कविता है जिसमें स्वाधीनता आंदोलन के मूल्यों के साथ हुए विश्वासघात को लेकर मध्यवर्ग में एक नैतिक पीड़ा उपस्थित थी! स्वतंत्रता के बाद का जो भारतीय इतिहास है वह मध्यवर्ग के निर्लज्ज एवं पतित हो जाने का इतिहास है। यह उस दौर की कविता है जब मध्यवर्ग की चेतना में स्वाधीनता आंदोलन के मूल्य बचे थे, दायित्वबोध की एक हल्की परत उपस्थित थी। इसी पापबोध से मुक्त होने के लिए ज्ञान के द्वारा मध्यवर्ग प्रयास करता है।

ब्रह्मराक्षस ज्ञानी है। मध्यवर्ग ज्ञान की सबसे प्रामाणिक राजधानी है। शिक्षा, अधिकार, संपन्नता, विवेकचेतना से लैस इस ज्ञान संपन्न मध्यवर्ग की कोई सामाजिक उपादेयता नहीं है। जीवन की परिस्थितियों से कोई संबंध नहीं है। मध्यवर्ग की राजनीति ज्ञान के व्यावहारिक पक्ष को सहने की स्थिति में नहीं है। ब्रह्मराक्षस के पास सैद्धांतिक ज्ञान है फिर भी वह निष्क्रिय है। वह अपने ज्ञान का क्रियात्मक रूपान्तरण नहीं कर पाता है। अशांति व अहंकार ग्रस्तता उसकी विशेष पहचान है।

'कीर्ति व्यवसायी' युग का तात्पर्य पूंजीवादी व्यवस्था के आगमन से है जिसका सर्वाधिक प्रभाव मध्यवर्ग पर पड़ा। पूंजीवाद के आगमन से भाव, तर्क, कार्य में विभाजन हो गया। पूंजीवाद ने मध्यवर्ग के व्यक्तित्व को विखंडित कर दिया! इस खंडित व्यक्तित्व में कैसे सामंजस्य हो - इसकी तलाश शुरू हुई।

पूंजीवादी वर्ग में नये गुरूओं का आविर्भाव हुआ। गुरूओं का विस्फोटक आगमन पूंजीवाद का परिणाम है। पूंजीवाद के परिणामतः इनकी संख्या व भूमिका दोनों में वृद्धि हो रही है। संबंधहीनता के निदान के लिए ब्रह्मराक्षस गुरूओं के पास जाता है। जिस ज्ञान की भूमिका सामाजिक नहीं होती वह ज्ञान व्यक्ति की समस्या का समाधान नहीं कर पाता। ज्ञान को सामाजिक स्तर पर क्रियान्वित किये बिना वह जीवन पर भार है। ऐसा ज्ञान भटकाव व भ्रमों को सृजित करता है। इसलिए ब्रह्मराक्षस भटकते हुए अंततः मर जाता है।

इस स्तर पर ब्रह्मराक्षस की मृत्यु मनुष्य की नैतिक खोज है। आज का मध्यवर्ग नैतिक मूल्यों व तनावों से शून्य है। वह किसी भी आपराधिक सामाजिक बोध से मुक्त है। मध्यवर्ग द्वारा विकसित आधुनिक ज्ञान मीमांसा में भारत के औसत मनुष्य की चिन्ता नहीं दिखाई देती। विद्वानों का मत है कि बेरोजगारी, भ्रष्टाचार, असमानता देश के लिए तीन सबसे बड़े मुद्दे हैं लेकिन यह किसी राजनीतिक दल के एजेंडे में नहीं है। यह प्रमाणित करता है कि किस प्रकार मध्यवर्गीय चेतना के स्तर पर एक शून्य पैदा हो गया है। ब्रह्मराक्षस की मृत्यु मध्यवर्ग की चेतना में फैल रहे शून्य की सूचना देती है। ब्रह्मराक्षस कविता का ब्रह्मराक्षस स्वातंत्र्योत्तर भारतीय मध्यवर्ग के चरित्र का ही प्रतिनिधित्व करता है।

बुनावट : काव्यशिल्प :

मुक्तिबोध छोटी कविताओं के कवि नहीं हैं। मुक्तिबोध ने कहा है कि मैं छोटी कवितायें लिख नहीं पाता और जो छोटी होती हैं, वे वस्तुतः छोटी न होकर अधूरी होती हैं। मुक्तिबोध लम्बी कविताओं के रचनाकार हैं। लम्बी कविता का एक रचनात्मक तर्क है। मुक्तिबोध के यहां कविता भावावेश की अभिव्यक्ति नहीं है। कविता एक वैयक्तिक अन्तर्दृष्टि है एवं अनुशासन से संचालित होती है। इसलिए एक काव्यात्मक अनुभूति एक दूसरी अनुभूति से, दूसरी तीसरी से जुड़ी होती है। मुक्तिबोध कहते हैं कि इस तथ्य को मैं इस तरह कहूंगा कि यथार्थ के तत्व परस्पर गुंफित होते हैं। साथ ही पूरा यथार्थ गतिशील होता है। यथार्थ की गतिशीलता एवं बहुआयामिता मुक्तिबोध की कविता को दीर्घ कर देती है। यथार्थ को गुंफित देखना मुक्तिबोध की कविताओं की बुनावट का संकेत है।

मुक्तिबोध की कविता में शब्द, बिंब, अर्थ, ध्वनियां भी परस्पर गुंफित भंवर की तरह आगे बढ़ती हैं। इसलिए उनकी कविता इस जटिलता के कारण असंगठित लगती है। कुंवर नारायण कहते हैं कि मुक्तिबोध की कविताओं का जो असंगठित शिल्प है वह सायास है। मानो उन्हें जानबूझकर इस तरह रचा गया हो कि वे एक उखड़े हुए बड़बड़ाते पागलपन का एहसास करा सकें - अपने कथ्य द्वारा नहीं, फार्म द्वारा भी। मुक्तिबोध की कविता की अनगढ़ता उस सुघड़ता के खिलाफ एक विद्रोह का प्रतीक है। जिस सुघड़ता के पीछे एक ऐसी संस्कृति एवं इतिहास की यादें हैं जिसके पास बारीक कारीगरी और पच्चीकारी वगैरह के लिए धैर्य व आलस्य के लिए लंबा सामंती समय था। इसलिए मुक्तिबोध की कविता एक खास तरह की झपट और जल्दी की कविता है। यही कारण है कि मुक्तिबोध की कविता का कथ्य जितना स्पष्ट और सीधा है, उनकी कविता की बुनावट उतनी ही जटिल व उलझी व सहज एवं बोधगम्य नहीं है। वे समझे जाने के लिए भारी धैर्य व लंबा समय चाहती हैं।

डा0 रामविलास शर्मा कहते हैं कि मुक्तिबोध की अनेक कविताओं में उनकी कला यूरोपीय साहित्य की **एलेग्री (रूपक)** से मिलती जाती है। रूपक रूप धारण करने की कला है। कविता में रूपक का अर्थ है मूल अर्थ पर एक अन्य अर्थ का आरोपण। किन्हीं अमूर्त भावों व विचारों के लिए मूर्त वस्तुओं तथा पात्रों की योजना इस कला की विशेषता है। मध्यवर्ग एक विचार है। मुक्तिबोध जगह-जगह स्पष्ट करते चलते हैं कि समुद्र पर आता हुआ जहाज साहसी समाज है, कंधे पर बैठा हुआ, शिशु दायित्वबोध है, अनुभव है, मानव परंपरा है।

मुक्तिबोध ने अपने भावों की जटिलता की अभिव्यक्ति के लिए एक विशिष्ट शिल्प का विकास किया जिसे फैंटेसी (Fantacy) कहा जाता है। फैंटेसी मुक्तिबोध के लिए अभिव्यंजना का माध्यम मात्र नहीं है वह उनकी चेतना की बनावट की अभिव्यक्ति का माध्यम भी है। **डा0 रामविलास शर्मा** कहते हैं कि स्वप्न मुक्तिबोध की सहज वृत्ति है। यथार्थ को स्वप्न में बदले बिना वे मानो उसे समझ नहीं सकते। इसलिए फैंटेसी एक ऐसा शिल्प है जिसमें यथार्थ को पहले स्वप्न में परिवर्तित किया जाता है। फैंटेसी अपनी बनावट में स्वप्न, प्रतीक, अवचेतन का जटिल विधान है। इसलिए मुक्तिबोध ने अपनी

कविताओं के लिए जिस फैंटेसी शिल्प का चुनाव किया उसमें मिथक, प्रतीक, रूपक, स्वप्न के विभिन्न उपकरण आपस में घुलमिल गये हैं।

फैंटेसी के विषय में मनोविश्लेषणवादी आलोचकों, मार्क्सवादी आलोचकों एवं कवियों ने पर्याप्त विचार किया है। मैथ्यू अर्नाल्ड ने फैंटेसी शब्द का प्रयोग कविता की आलोचना के संदर्भ में पहली बार किया। फ्रायड ने फैंटेसी का प्रयोग अवचेतन की अतृप्त आकांक्षा की पूर्ति के रूप में किया है। मनुष्य एक कल्पना चेतन के धरातल पर करता है, दूसरी कल्पना अवचेतन स्वयं करता है जो विचारों से मुक्त होता है। इस प्रकार फैंटेसी कल्पना का ही एक रूप है। अवचेतन की सतह से उठती हुई कल्पना फैंटेसी का रूप धारण करती है। फैंटेसी में कार्य कारण में कोई संबंध नहीं है। इसलिए फैंटेसी में स्वप्न की भी भूमिका होती है। फ्रांस में रचना के क्षेत्र में अतियथार्थवादी आंदोलन चला जिसके सबसे बड़े कवि मलारमे थे। उनके अनुसार यदि कोई कविता समझ में आ जाय तो वह कविता की पराजय है। ऐसी कविताओं के लिए उपयुक्त शिल्प फैंटेसी है।

मार्क्सवादी चिंतन में फैंटेसी को एक ऐसी दृष्टि के रूप में परिभाषित किया गया है जिसके माध्यम से रचनाकार पूंजीवादी व्यवस्था के जटिल उलझे हुए चरित्र को उद्घाटित करता है। फैंटेसी एक ऐसा शिल्प है जो पूंजीवादी व्यवस्था के उलझाव को उद्घाटित करता है।

कॉलरिज ने फैंटेसी का अनुवाद ललित कल्पना किया है जो कल्पना का वह प्रारूप है जहां वह परिस्थितियों से बंधा हुआ नहीं है। यह चेतना से उन्मुक्त उड़ान है।

मुक्तिबोध फैंटेसी पर विचार दो संदर्भों में करते हैं। पहला कामायनी की व्याख्या के संदर्भ में व दूसरा अपनी रचना प्रक्रिया के संदर्भ में। मुक्तिबोध ने कामायनी को एक फैंटेसी की संज्ञा दी और प्रसाद की कविता की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा कि फैंटेसी एक ऐसा शिल्प है जिसमें यथार्थ की प्रकृति व उसके रूप विधान में असंगति है। यही फैंटेसी का मूल आधार है।

तुम हो कौन और मैं क्या हूं
इसमें क्या है धरा सुनो
मानस जलधि रहे चिर चुंबित
मेरे क्षितिज उदार बनो

यहां कविता का ढांचा पूर्णतः (spiritual) आध्यात्मवादी है लेकिन इन पंक्तियों के समूचे अर्थ की जड़ प्रिय-प्रेयसी के परस्पर संबंधों से यह प्रश्न उठ रहा है। इसलिए इस कविता के मूल में प्रणय तथ्य का उद्घाटन है। ऊपर से प्रश्नों में आत्मा परमात्मा के संबंध प्रतिबिंबित होते हैं। क्षिति प्रिय को व्यक्त कर रहा है।

इस प्रकार जहां अन्तर्वस्तु एवं रूप में अंतराल दिखाई पड़े वहां फैंटेसी होती है। फैंटेसी के माध्यम से रचनाकार एक वस्तुगत सामाजिक आधार को असंबद्ध से लगने वाले रूप विधान में प्रस्तुत करता है। फैंटेसी में स्वप्न, रूपक, प्रतीक का मिश्रण होता है।

रचना प्रक्रिया के संदर्भ में फैंटेसी पर विचार करते हुए मुक्तिबोध कहते हैं कि रचना के तीन क्षण होते हैं -1) यथार्थ का तीखा अनुभव 2) इस यथार्थ से तटस्थता 3) उस यथार्थ का फैंटेसी के रूप में प्रकटीकरण।

मुक्तिबोध की कविता में फैंटेसी वस्तुतः शिल्प का ऐसा विधान है जो यथार्थ के मूल आधारों तथा अन्तर्विरोधों को विशिष्ट दृष्टि एवं परिवेश में व्यक्त करता है। मुक्तिबोध कहते हैं कि मैंने अपनी कविता में फैंटेसी का प्रयोग इसलिए भी किया है कि इसके प्रयोग से मैं यथार्थ के प्रदीर्घ चित्रण से बच जाता हूं। अभिव्यक्ति को यथार्थ के गहरे तनाव से संपृक्त रखने के लिए फैंटेसी का प्रयोग किया गया है।

फैंटेसी मुक्तिबोध की कविता की अपनी पहचान है। कामायनी की व्याख्या मुक्तिबोध की फैंटेसी की आलोचना दृष्टि का प्रमाण है। इस तरह से फैंटेसी रचनाकार के अनुभव और उसकी कल्पना शक्ति पर आधारित ऐसा शिल्प विधान है जिसके माध्यम से वर्तमान जिंदगी के यथार्थ का चित्रण संभव है।

दहशत, गहरी व्यग्रता का भाव, एक अंतहीन दुःस्वप्न की तरह यथार्थ, दानवी विकृति, बेतरतीब पूंजीवादी व्यवस्था की अमानुषिक पकड़ में साधारण आदमी की जिंदगी व इसकी अभिव्यक्ति के लिए मुक्तिबोध ने फैंटेसी का उपयोग किया है। इसलिए मुक्तिबोध समकालीन जीवन के भयावह रूप व लंबे दुःस्वप्न को फैंटेसी के रूप में प्रस्तुत करते हैं लेकिन मुक्तिबोध फैंटेसी का उपयोग केवल मनुष्य के

भय, दु:स्वप्न और चिंताओं के लिए ही नहीं करते बल्कि वे फैंटेसी का प्रयोग एक आकांक्षित स्वप्न के लिए भी करते हैं।

मुक्तिबोध की कविता में फैंटेसी के प्रयोग के कारण जंगल की बीहड़ता व किले की रहस्यमयता पैदा हुई है। यथार्थ की अनेक तहों की तरह मुक्तिबोध की कविताओं की भी अनेक तहें हैं जिन्हें उन्होंने फैंटेसी के ढांचे में ढालकर एक सार्वजनिक सार्वकालिक महत्व प्रदान किया है। इसलिए मुक्तिबोध इस कविता में ब्रह्मराक्षस को ध्यान में रखकर फैंटेसी की मूलशक्ति यथार्थ को आदर्श से जोड़ सकने में सफल रहे हैं। इसलिए उनकी प्रत्येक कविता यथार्थ के बीहड़ से गुजरते हुए अंतत: एक स्वप्न, आकांक्षा पर समाप्त होती है, इसी फैंटेसी के आधार पर। मुक्तिबोध की कविता में प्रयुक्त फैंटेसी एक स्तर पर जहां यथार्थ की विकरालता व उसकी जटिलता को समझने में मदद करती है वहीं दूसरे स्तर पर इस यथार्थ को आदर्श स्वप्न में रूपान्तरित करने की ऊर्जा भी बनती है।

मुक्तिबोध के सामने एक भविष्य है तथा उस पर पहुंचने के लिए उनके अपने तरीके। फैंटेसी भविष्य तक पहुंचने की एक पगडंडी है। इसलिए उनकी कविता में कटु यथार्थ है जिसे वे स्वार्थांध सभ्यता के शासन का चक्रव्यूह कहते हैं और जिसके साथ वे किसी तरह का समझौता नहीं करना चाहते। दूसरी तरफ उनकी कविता में एक सुनहरा स्वप्न है। मुक्तिबोध की फैंटेसी इन दो दुनियाओं में संबंध सेतु की भूमिका निभाती हैं। ये फैंटेसी शिल्प के माध्यम से कटुयथार्थ व स्वप्न की यात्रा को संभव बनाते हैं। इसीलिए पूंजीवादी यथार्थ के भीतर इसी स्वप्न के आधार पर कह सकते हैं -

मुझे भ्रम होता है
कि प्रत्येक पत्थर में चमकता हीरा है
प्रत्येक प्राणी में आत्मा अधीरा है
हर एक की वाणी में महाकाव्य की पीड़ा है।

भाषा

मुक्तिबोध की भाषा में एक खास तरह का फैलव व उलझाव है। मुक्तिबोध की भाषा भावात्मक भाषा है। यह धूमिल की भांति लक्ष्यभेदी नहीं है। उनकी कविता में शब्दों का हुजूम है जो

अचानक पत्थर की तरह बरसने लगता है, अचानक थम जाता है। इसीलिए उनकी कविता की भाषा जो लैण्डस्केप बनाती है वह बड़े-बड़े पहाड़ों, पठारों, जंगलों, किलों की याद दिलाता है। उनकी कविता की भाषा में नदी का आवेग और उन्माद है। टकराव व चक्कर है, छलांगें व संघर्ष है। इसलिए उनकी कविता का भाषिक विधान हिन्दी कविता में एक अलग पहचान रखता है।

ब्रह्मराक्षस मुक्तिबोध की अन्य कविताओं की तरह ही उनकी शिल्प चेतना का प्रतिनिधि है। मुक्तिबोध के काव्य संसार और हिंदी कविता में ब्रह्म राक्षस की पहचान जहां भारतीय मध्यवर्ग की पहचान के कारण है वहीं दूसरी ओर फैंटेसी के उस शिल्प के प्रयोग के कारण है जो मुक्तिबोध की रचनाओं को एक विशेष पहचान देती है।

ब्रह्मराक्षस–II

मुक्तिबोध तार सप्तक के कवियों में से एक कवि हैं। तार सप्तक संकलन के प्रत्येक रचनाकार ने अपने संबंध में और अपनी रचना दृष्टि के संबंध में वक्तव्य दिया है।

तार सप्तक में मुक्तिबोध ने अपने आत्म-वक्तव्य में कहा कि मेरा मन द्वन्द्वग्रस्त रहता है। द्वन्द्व हमेशा एक विभाजित मन की सूचना देता है। निष्कर्षों को उपलब्ध कर लेने पर द्वन्द्व समाप्त हो जाता है। इसलिए द्वन्द्व सत्य अथवा निष्कर्ष को उपलब्ध करने की प्रक्रिया में लगे हुए मन का लक्षण है। द्वन्द्व एक तरह से विकल्पित मन है। मुक्तिबोध ने कहा कि एक तरफ मेरा मन वर्गसां के सौंदर्य शास्त्र की तरफ भागता है और दूसरी तरफ मार्क्सवाद की तरफ झुकता है। यानी मुक्तिबोध का मन भाववाद और वस्तुवाद दो दिशाओं की ओर भटकता है। इसलिए एक बात तो बिल्कुल स्पष्ट है कि मुक्तिबोध के यहां सत्य एक दी हुई वस्तु नहीं होती, सत्य कोई पूर्व निर्धारित निष्कर्ष भी नहीं होता, सत्य अनुभव और आचरण से सत्यापित होता है। सत्य मात्र बाहरी उपस्थिति नहीं है बल्कि इस सत्य को हर बार निर्मित करना होता है।

मुक्तिबोध की काव्य चेतना इस बिन्दु पर प्रगतिवाद और मार्क्सवाद से अलग है, क्योंकि वे सत्य और यथार्थ को मात्र वस्तुगत न मानते हुए आत्मगत भी मानते हैं। इसलिए मुक्तिबोध की कविताओं की दुनिया भीतरी और बाहरी, वस्तुगत और आत्मगत, द्वन्द्वों और टकराहटों से निर्मित हुई है। वे एक वस्तुगत सत्य पर आधारित सिद्धांत मार्क्सवाद को मानते हैं।

उनके अनुसार मार्क्सवाद में जो स्थापनाएं हैं वे सत्य हैं, लेकिन इस सत्य का आभ्यंतरीकरण अनिवार्य है। सत्य किताबों में लिखा होता है वहां वह निर्जीव है एक सूचना है। वह सत्य अर्थवान और सांक्रेय तब होता है जब व्यक्ति उसे जीने लगता है। इसलिए मुक्तिबोध की समूची काव्य चिंता उस सत्य को आभ्यंतर करने की चिंता है। मुक्तिबोध अनुभव करते हैं कि जीवन सिद्धांत और आचरण की खाई में बंटा हुआ है। जीने की दिशाएं अलग हैं, सिद्धांतों की दिशाएं अलग हैं। दोनों में कोई साम्य दिखाई नहीं देता। मुक्तिबोध के लिए रचनाकर्म सत्य और आचरण के बीच एक्य की स्थापना है। इसलिए उनकी कविताएं आत्ममंथन की कविताएं हैं। वे इतिहास और समाज के वस्तुगत सत्यों के चित्रण को पर्याप्त नहीं मानते। बल्कि वे इतिहास और समाज में व्यक्ति की भूमिका और उसकी जवाबदेही को भी तय करना चाहते हैं। इसलिए मुक्तिबोध के यहां कविता मात्र यथार्थ का वाहक नहीं है। बल्कि यथार्थ में या समाज में व्यक्ति की जवाबदेही का आकलन भी है। उनकी एक बहुत चर्चित कविता है—

जो है उससे बेहतर चाहिए
पूरी दुनिया को साफ करने के लिए एक मेहतर चाहिए
और वह मेहतर मैं हो नहीं पाता।

परिवर्तन के लिए आकांक्षा पर्याप्त नहीं होती, सिद्धांत भी परिवर्तन के लिए पर्याप्त नहीं होते, आकांक्षा और सिद्धांत को अर्थ देता है व्यक्ति का आचरण।

इसलिए मुक्तिबोध के अनुसार ज्ञान का आभ्यांतरीकरण अनिवार्य है। संभवतः इसलिए मुक्तिबोध कवि कर्म को कला कर्म नहीं मानते। उनके लिए वह एक राजनीतिक, सामाजिक और मानवीय कर्म है। काव्य कर्म का प्रश्न आदमी के बनने से जुड़ा हुआ प्रश्न है। वह आदमी बनने और बनाने की एक प्रक्रिया है।

इस आभ्यांतरिकता के कारण मुक्तिबोध की कविताओं की एक मनोवैज्ञानिक व्याख्या भी होती रही है। रामविलास शर्मा ने मनोवैज्ञानिक व्याधि से जोड़ कर मुक्तिबोध की कविताओं की व्याख्या की है। किन्तु, मुक्तिबोध के यहां मन एक व्याधि के स्तर पर नहीं है बल्कि आभ्यांतरिकता के स्तर पर है। यह जीने की उस प्रक्रिया के स्तर पर है जिसका द्रष्टा व्यक्ति होता है। इसलिए यहां आभ्यांतरिकता जीने की वास्तविकताओं का ईमानदार साक्षात्कार है। इसी साक्षात्कार के कारण मुक्तिबोध समाज और इतिहास के सत्य में अपनी भूमिका को स्वीकार करते हैं। अंधेरे में कविता में उन्होंने कहा है कि 'मानो मेरे ही कारण लग गया मार्शल ला वह।' इसलिए मुक्तिबोध की कविताओं को पढ़ते समय रचनाकार की भूमिका और रचनाकार की मानसिक प्रतिक्रिया को केन्द्र में

रखना अनिवार्य है। उनकी कविताएं सतह पर बिखरी हुई घटनाओं और परिस्थितियों का संयोजन मात्र नहीं है। बल्कि उन घटनाओं को व्यवस्था और व्यक्ति आचरण के विश्वस्त धागों में गूंथा गया है। इसलिए मुक्तिबोध के यहां जहां कोई घटना भी है उसको मात्र घटना के स्तर पर नहीं समझा जा सकता है। घटना है तो उसके पीछे एक व्यवस्था है और उस व्यवस्था में कवि का 'मैं' भी शामिल है।

इसी बिंदु पर मुक्तिबोध परम्परागत कवियों से अलग हो जाते हैं। अतः पहली बात जो मुक्तिबोध की कविताओं को पढ़ते समय ध्यान में रखने की है कि ये कविताएं आत्म वक्तव्य भी हैं और ऐतिहासिक सामाजिक यथार्थ का साक्षात्कार भी हैं। इन कविताओं की केन्द्रीय चिंता व्यक्तित्वांतरण की चिंता है। वे कविता के माध्यम से व्यक्ति के वर्ग चरित्र में परिवर्तन करना चाहते हैं।

दूसरी बात, मुक्तिबोध की कविताओं का जो परिवेश है वह समूची हिंदी कविता की परम्परा में बहुत अलग है। 'चांद का मुंह टेढ़ा है' की भूमिका में शमशेर ने उनकी कविताओं की दुनिया पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि मुक्तिबोध की कविता को किसी राजदां की बातों की तरह संभल संभल कर सोच सोच कर बल्कि कभी कभी दोहरा दोहरा कर पढ़ना चाहिए। किसी किसी कविता के कई अंश जासूसी उपन्यासों की याद दिलाते हैं ..... मुक्तिबोध की कविताओं की दुनिया, रहस्य से, भय से, आतंक से भरी हुई दुनिया है। ये कविताएं नितांत सपाटता विरोधी कविताएं हैं। इसलिए मुक्तिबोध की प्रायः सभी कविताएं भय, आशंका, रहस्य, रोमांच से भरी हुई कविताएं हैं। इसके लिए मुक्तिबोध ने जिन उपकरणों का चुनाव किया है उसमें सूनी बावड़ी, अंधे कूएं, उलझी हुई झाड़ियां, अंधेरी गुफाएं, रात और कर्फ्यू के सन्नाटे में डूबी हुई सड़कें, सहमी हुई चांदनी, मार्शल लॉ, जासूसों की भयावनी निगाहें इत्यादि हैं।

इसलिए मुक्तिबोध की ज्यादातर कविताएं रात के परिवेश का चुनाव करती हैं। उनकी कविताओं का घटना व्यापार रात में घटित होता है। इस तरह से कविताओं में एक कोहरे, रहस्य, भय के निर्माण के द्वारा वे तनाव की सृष्टि करते हैं या संभवतः तनाव के कारण उनकी कविताओं में एक भय का वातावरण है।

अपने एक संस्मरण में हरिशंकर परसाई ने उन दिनों को याद किया है जब मुक्तिबोध ने 'अंधेरे में' कविता लिख दी थी। उन्होंने लिखा है कि जब वे उनके यहां गये थे तो अचानक रात में मुक्तिबोध ने 'अंधेरे में' कविता सुनाई थी। उनका कविता सुनाना एक बहुत तनाव की प्रक्रिया थी। गर्दन की शिराएं तन जाती थीं और चेहरे पर रक्त उतर आता था। मुक्तिबोध की आत्मकथा विष्णु

चंद्र शर्मा ने लिखी है। उसमें जिक्र किया गया है कि मुक्तिबोध के जीवन में जो तनाव है वही कविता में उतर कर आया है। उनकी कविताओं में जो परिवेश हैं वे मात्र कल्पित नहीं है बल्कि मुक्तिबोध का परिवेश भी है।

इसलिए मुक्तिबोध की कविता परिवेश को उसकी भयावहता में पकड़ती है और चित्रित करती है। बहुत कम ऐसे स्थल हैं जहां मुक्तिबोध परिवेश के सुकुमार और सुंदर संदर्भों का चित्रण कर पाते हैं। दुर्घटनाओं की आशंका से भरी हुई कविताएं हैं। यह दुर्घटना एक सचेत और संवदेनशील रचनाकार की कल्पना नहीं है। यह दुर्घटना एक समय का भयावना चरित्र है जिससे बच पाना संभव नहीं है। ये दुर्घटनाएं उन हादसों का प्रतिनिधित्व करती हैं जो हादसे व्यवस्था के चरित्र से सहज ही उत्पन्न किए जाते हैं।

मुक्तिबोध इस तरह से बहुत साधारणता से चीजों को नहीं लेते। इसलिए मुक्तिबोध की कविताओं में जो आशंका है उसको उन्होंने परिवेश में रिफ्लैक्ट किया है। जिस चांद को लेकर नायिका के चेहरे की चमक देखी जाती रही, मुक्तिबोध के यहां उस चांद का मुंह टेढ़ा है। मुक्तिबोध के यहां चीजें उस तरह नहीं दिखाई पड़ सकतीं जैसे एक सुरक्षित व्यक्ति देख पाता है। जिसने व्यवस्था के सच और चरित्र को जान लिया है उसे चीजें उस तरह नहीं दिखाई पड़ सकतीं।

इसलिए मुक्तिबोध की कविताओं को मात्र कला कर्म के स्तर पर नहीं समझा जा सकता। समय के और आदमी के गहरे दुखों, यातनाओं और संघर्षों के माध्यम से ही मुक्तिबोध की कविता का भाष्य संभव है।

मुक्तिबोध की कविता का एक और पक्ष है, वह है मध्य वर्ग। लगभग सभी कविताएं मध्यवर्ग की भूमिका, उसके जीने के तरीके, उसके संस्कार और जीवन मूल्य, यानी मध्यवर्गीय अस्तित्व का महाख्यान हैं। क्योंकि मुक्तिबोध अनुभव करते हैं कि व्यवस्था के परिवर्तन या परिवर्तन के मार्ग की सबसे बड़ी बाधा मध्यवर्ग है। या तो वह परिवर्तन करेगा या रोक देगा। लेकिन मध्यवर्ग की जो परिवर्तनकारी और मूल्यवादी भूमिका हो सकती है उससे मध्यवर्ग तटस्थ हो गया है। इसलिए इतिहास में मध्यवर्ग की इस आत्मघाती भूमिका की चर्चा और उसके प्रति अपनी प्रतिक्रिया उनकी कविताओं का एक मुख्य क्षेत्र है। अतः इन कविताओं का जो सामाजिक संदर्भ है वह स्पष्टतः वर्गीय है। संस्कृति और मनुष्यता जैसे जो भाववादी पद हैं वे अपर्याप्त हैं वे समाज का विश्लेषण वर्गीय संरचना के भीतर करते हैं। इसलिए यहां जो व्यक्ति दिखाई पड़ता है वह एक असंबद्ध इकाई नहीं

है। मध्यवर्गीय मानसिकता का पूंजीभूत रूप यह व्यक्ति है इसलिए मध्यवर्ग की अर्थ मीमांसा को मुक्तिबोध कविता के माध्यम से संभव बनाते हैं।

मुक्तिबोध की कविताओं में फैंटेसी की चर्चा की गई है। सामान्यतः इसका प्रयोग स्वप्न के लिए किया जाता है। असंबद्ध स्वप्न खंडों को मनोविज्ञान में फैंटेसी कहा गया है। कॉलरिज ने मनोविज्ञान से इस शब्द को आलोचना के क्षेत्र में उतारा। उन्होंने इसे स्वप्न का नहीं बल्कि कल्पना का एक प्रकार माना। उन्होंने कहा कि एक कल्पना वह होती है जिसमें एक संगति होती है। एक कल्पना वह होती है जिसमें देश और काल का संबंध नहीं होता। फैंटेसी ऐसी कल्पना है जिसमें कोई सूत्र नहीं होता। बिखराव और असंबद्धता इस फैंटेसी का मूल लक्षण है।

इस फैंटेसी का पहली बार इस्तेमाल अति यथार्थवादियों ने किया, क्योंकि उनका मानना था कि अवचेतन का जो सत्य है वह बहुत विश्रृंखलित है, वह तार्किक भी नहीं है। उसकी तर्क सूत्रता सिर्फ यह है कि वह है। अवचेतन में जो चेतना के निर्माण की प्रक्रिया है उसे किसी व्यवस्था से व्याख्यायित नहीं किया जा सकता। इसलिए अतियथार्थवादियों के लिए सबसे उपयुक्त शिल्प फैंटेसी था।

मुक्तिबोध ने भी फैंटेसी का इस्तेमाल किया जब कि मुक्तिबोध प्रतिबद्धता के कवि हैं और उनका सत्य मार्क्सवाद से व्याख्यायित किया जा सकता है। लेकिन फिर भी उन्होंने फैंटेसी का प्रयोग किया है। यह प्रश्न विचारणीय है कि मुक्तिबोध को फैंटेसी के प्रयोग की क्या जरूरत पड़ी, क्योंकि फैंटेसी यथार्थवादी अनुभव की अभिव्यक्ति का माध्यम नहीं है। अतियथार्थवादियों ने जिसका प्रयोग किया है उससे एक व्यवस्थित यथार्थ को कैसे व्यक्त किया जा सकता है। वस्तुतः मुक्तिबोध ने मार्क्सवाद से भिन्न यथार्थ की व्याख्या की। उन्होंने कहा कि यथार्थ बहुत जटिल, संश्लिष्ट और गतिशील होता है। वह इकहरा नहीं होता।

ऐसे यथार्थ की अभिव्यक्ति सामान्य शिल्प से संभव नहीं है। चूंकि फैंटेसी में बहुत लचीलापन है, इसलिए एक बहुत लचीले शिल्प के माध्यम से ही इस जटिल, संश्लिष्ट और गतिशील यथार्थ को पकड़ा जा सकता है। इसलिए एक भाववादी शिल्प का प्रयोग मुक्तिबोध ने यथार्थ की अभिव्यक्ति के लिए किया और उन्होंने कहा कि फैंटेसी के प्रयोग से कवि प्रदीर्घ चित्रण से बच जाता है। फैंटेसी बाहर से बहुत चमत्कारिक घटना की तरह दिखाई देती है लेकिन उसकी व्याख्या इतिहास की समझ से और इतिहास के सूत्रों से की जा सकती है। इसलिए सामान्यतः मुक्तिबोध का शिल्प फैंटेसी शिल्प है और फैंटेसी शिल्प का अर्थ है कि घटना की व्याख्या तथ्यता के आधार पर नहीं होगी। यदि कोई घटना है या कोई दृश्य भी है तो वह ज्यों का त्यों नहीं है।

फैंटेसी प्रतीक का पर्याय नहीं है। प्रतीक शब्दों में होता है फैंटेसी घटनाओं में हो सकती है और कथा में भी हो सकती है।

कुबेरनाथ राय ने ब्रह्मराक्षस पर एक लेख लिखा है जिसमें ब्रह्मराक्षस के प्रतीक को व्याख्यायित करने की कोशिश की गई है। उन्होंने लिखा है – 'ब्रह्मराक्षस किस तथ्य का प्रतीक है? यह प्रश्न कविता में अर्धउत्तरीत और अर्ध आच्छादित रह जाता है। जब कविता के अंश प्रति अंश पर उस उत्तर को बैठाने लगते हैं तो कहीं न कहीं कठिनाई उपस्थित हो ही जाती है। क्या यह ब्रह्मराक्षस अतीत की बौद्धिक चेतना है अथवा ब्रह्मराक्षस मुक्तिबोध का भोक्ता स्व है जो अचेतन के या अवचेतन के कियोस में कैद है और उसकी मृत्यु से उसी की बली प्रक्रिया के मध्य उसका 'सजल उर', सृजक स्व जन्म लेता है अथवा ब्रह्मराक्षस मध्यवर्गीय चिंतन है जो अकेले में रहने के लिए अभिशप्त है। ब्रह्मराक्षस नये बुद्धिजीवी की स्वानुभूत भूल गलती की या पाप की चेतना है आदि आदि अनेक संकेत प्रथम वाचन में ही उठने लगते हैं।'

कुछ चीजें हमारे सामने हैं उसको सूत्र में अगर देखें तो पहला यह है कि क्या ब्रह्मराक्षस अतीत की बौद्धिक चेतना है ? अतीत की बौद्धिक चेतना का अभिप्राय है ऐसी चेतना जो वर्तमान के सत्य को व्याख्यायित करने में असमर्थ हो। उस हिसाब से हम यह कह सकते हैं जो बुद्ध ने कहा, उपनिषदों ने कहा, शंकराचार्य ने कहा, कृष्ण ने कहा वह अतीत की बौद्धिक चेतना है। उस बौद्धिक चेतना से क्या हम आज के सत्य को, आज के आदमी की व्याख्या कर सकते हैं, नहीं कर सकते। इसलिए संभावना यह हो सकती है कि ब्रह्मराक्षस अतीत की बौद्धिक चेतना है।

दूसरा उन्होंने कहा कि ब्रह्मराक्षस मुक्तिबोध का 'स्व' है। क्या स्वयं मुक्तिबोध की चेतना ब्रह्मराक्षस का प्रतिनिधित्व करती है ? या वह मध्यवर्गीय चिंतन है, क्योंकि ब्रह्मराक्षस भी अंधेरे में रहता है, वहां एकांत की जरूरत पड़ती है। ब्रह्मराक्षस बावड़ी में है, अवचेतन में। क्या यह मध्यवर्गीय चिंतन है जो अकेले होने के लिए अभिशप्त है ? या यह बुद्धिजीवियों की पाप चेतना है? इतिहास, समाज, मनुष्य के जीवन में जो बुद्धिजीवी की भूमिका हो सकती है वह भूमिका नहीं निभाने के कारण जो अपराधबोध पैदा हुआ है क्या ब्रह्मराक्षस उस अपराधबोध का पर्याय तो नहीं है? इस प्रकार कई तरह के प्रतीकों की संभावनाएं इसके भीतर मौजूद हैं।

कविता शुरू होती है, शहर की उस ओर खण्डहर की तरफ परित्यक्त सूनी बावड़ी से। यह बावड़ी शहर की गतिविधियों से, जीवन के स्पंदनों से दूर बिल्कुल शहर के दूसरे किनारे पर स्थित है। इस बावड़ी में ठण्डे-जल की गहराइयां हैं और मुक्तिबोध एक संकेत करते हैं कि "उस पुराने

घिरे पानी में, समझ में आ न सकता हो, कि जैसे बात का आधार लेकिन बात गहरी हो।" यह बावड़ी मिलाजुला कर इस तरह का भाव देती है।

आगे कविता सूचना देती है कि बावड़ी किस तरह के परिवेश में है। आसपास में काफी लताएं हैं, कुछ पेड़ हैं जिनकी लताएं इसके उपर झुकी हुई हैं यानी बीहड़ता और भयावहता की संयुक्त दृश्य की सृष्टि वे करते हैं –

'बावड़ी को घेर
डालें खूब उलझी हैं
खड़े हैं मौन औदुम्बर।
व शाखों पर
लटकते घुग्घुओं के घौंसले
परित्यक्त, भूरे, गोल।'

डालियां छाई हुई हैं, और इन डालियों से लटकते हुए घुग्घुओं के घौंसले हैं जिनमें कोई नहीं रहता। इस क्षेत्र में प्रवेश करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि यहां कोई पुण्य घटित हुआ है। जो इस दृश्य को देख रहा है वह कह रहा है, एक ऐसा पुण्य जो घटित हो चुका है, और हवाओं में इस पुण्य का एहसास होता है। फिर जैसे और नजदीक आता है बावड़ी की मुण्डेरों पर डगर, लताएं हैं लताओं में सफेद फूल खिले हुए हैं, आसपास लाल फूल भी हैं और तब अंत में कहता है कि बावड़ी की उन घनी गहराइयों में शून्य ब्रह्मराक्षस एक पैठा है। जैसे उसने इस जगह का चुनाव किया हो। उसकी गतिविधियों का जिक्र इन पंक्तियों में किया गया है –

'भीतर से उमड़ती गूंज की भी गूंज
हड़बड़ाहट शब्द पागल से।'

नजदीक से ऐसा प्रतीत होता है कि पानी में कोई बडबड़ा रहा है। शब्द स्पष्ट नहीं है। लेकिन वाचक कहता है कि मैं देख रहा हूं –

'तन की मलिनता
दूर करने के लिए, प्रतिपल
पाप छाया दूर करने के लिए, दिन रात
स्वच्छ करने
ब्रह्मराक्षस
घिस रहा है देह।

हाथ के पंजे, बराबर,
बांह–छाती–मुंह छपाछप
खूब करते साफ,
फिर भी मैल
फिर भी मैल।।'

यहां आकर परिदृश्य बिल्कुल साफ हो जाता है। इस बावड़ी में एक ब्रह्मराक्षस पैठा हुआ है वह बड़बड़ा रहा है और उसकी बड़बड़ाहट की ध्वनि गूंज और अनुगूंज के स्तर पर कूएं में भी है और कूएं के बाहर भी सुनाई पड़ती है। पानी छपाछप फेंक रहा है फिर भी मैल साफ नहीं होता है।

इसलिए संक्षेप में इस अंश को ध्यान में रखें तो शहर के बाहर एक सूनी बावड़ी है उसके आसपास का परिवेश सन्नाटे में डूबा हुआ कुछ भयावना सा भी है। उस बावड़ी के भीतर शताब्दियों का जैसे ठहरा हुआ पानी है, उसमें एक ब्रह्मराक्षस है जो अपने हाथ के पंजे और पैर लगातार रगड़ कर साफ करना चाहता है। लेकिन फिर भी मैल छूटती नहीं है। इस बड़बड़ाहट का, इस बेचैनी का, इस उद्विग्नता का शायद कारण यह हो कि बहुत प्रयास करने के बाद भी मैल खत्म नहीं हो रही है। मैल और ब्रह्मराक्षस में जो छिपा हुआ अर्थ है वही संभवतः केन्द्रिय कथ्य है। यह मैल क्या है या यह पाप छाया क्या है ?

इस पाप छाया को समाज और इतिहास के संदर्भ में भी व्याख्यायित किया जा सकता है। विष्णु चंद शर्मा ने और शमशेर ने भी यह लिखा है कि दोस्तयवस्की मुक्तिबोध के बहुत प्रिय लेखकों में से एक थे। इसलिए अपराधबोध का मनोविज्ञान मुक्तिबोध के यहां बहुत प्रभावशाली है।

ब्रह्मराक्षस की यह जो पाप छाया है क्या मनोवैज्ञानिक है या इस पाप छाया को इतिहास के संदर्भ में व्याख्यायित किया जा सकता है ? इस दृष्टि से इस कविता के रचनाकाल को देखें तो 1957 से 1962 के बीच यह कविता लिखी गई है। यह पाप छाया मध्य वर्ग के अपराधबोध का प्रतिरूप है। इस पाप छाया की प्रकृति ऐतिहासिक है। इस रूप में ऐतिहासिक है कि उसका संदर्भ स्वाधीनता पूर्व और स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दुस्तान है। मध्य वर्ग ने स्वाधीनता आंदोलन का नेतृत्व किया और तब से लगभग 40 करोड़ लोगों के सपनों के स्रोत का निर्माण किया। स्वाधीनता एक स्वप्न थी इसके साथ कई प्रकार के सामाजिक सपने जुड़े हुए थे। वह एक राजनीतिक घटना या उपलब्धि मात्र नहीं थी। नये भारत के निर्माण, समानता, समृद्धि और एक मूल्य केन्द्रित समाज के निर्माण का स्वप्न स्वाधीनता से जुड़ा हुआ था। एक नया देश जो मूल्यों पर आधारित हो, जिसमें अपनी परम्परा की गरिमा और उसकी अस्मिता की विश्व के स्तर पर विशिष्ट पहचान हो। न्याय, समानता और

विकास प्रत्येक व्यक्ति को मिल पाए, स्वाधीनता का वस्तुतः यह सपना था। इस स्वप्न के साथ और इस ऐतिहासिक भूमिका के साथ मध्य वर्ग ने आजादी के बाद विश्वासघात किया। इसलिए स्वतंत्रता से पूर्व जिन शक्तियों के साथ हम लड़ रहे थे या कम से कम मध्य वर्ग लड़ रहा था आजादी के बाद वे ही शक्तियां हमारी संस्कृति बन गईं। यह जो ऐतिहासिक विडम्बना है कि जिस वर्ग पर इस देश को पहचान देने का दायित्व था, विकास को समानता के धरातल पर प्रतिष्ठित करने का दायित्व था उस वर्ग ने सिर्फ अपने आत्म सुखों और सुविधाओं के लिए इस बड़े स्वप्न के साथ विश्वासघात किया। उसी विश्वासघात की यह पाप छाया है।

इस पाप छाया से मुक्त होने के लिए यदि आज के संदर्भ में देखें तो कविता का जो बिम्ब है वह हट कर अर्थ देता है। आज का जो ब्रह्मराक्षस है या आज का जो मध्य वर्ग है उनमें थोड़ा फर्क आ गया लेकिन स्थिति वही है। वह अब बैठा हुआ नहीं है। वह चल रहा है – तीर्थ स्थलों पर जा रहा है। यह वह पाप छाया है। एक तरफ वह बिल्कुल नया हो जाना चाहता है और एक तरफ पुरानी सामाजिक संगठन की स्मृतियों को भी नहीं छोड़ना चाहता। इसलिए संयुक्त परिवार के प्रति, संबंधों के प्रति, धार्मिक अनुष्ठानों के प्रति भी उसके मन में एक गहरा लगाव दिखाई देता है। न नया हो पा रहा है और न ही पूरी तरह से पुराने को अस्वीकार कर पाता है इससे कोई निर्णय नहीं हो पाता है।

इसलिए यह पाप चेतना इतिहास के प्रति दायित्वहीनता नहीं बल्कि इतिहास के साथ विश्वासघात की पाप चेतना है। इस पाप चेतना से वह मुक्त होने की कोशिश कर रहा है लेकिन गलत बिन्दु पर कर रहा है।

पूरी कविता ब्रह्मराक्षस की इन्हीं गतिविधियों, उसकी मानसिकताओं, उसके चरित्र का आख्यान है। इस प्रकार पाप छाया एक तरह से ऐतिहासिक विश्वासघात द्वारा जन्मी हुई वर्ग मानसिकता है।

इस चरित्र की कुछ खासियतें हैं जिसकी सूचना कविता में दी गई है। वह बहुत विद्वान है और संस्कृत के श्लोक बोलता है। इस पाप छाया को दूर करने की कई पद्धतियों का वह इस्तेमाल कर रहा है। लेकिन मस्तक पर चिंता की रेखाएं मौजूद हैं। यह मध्यवर्ग आत्म शुद्धि के लिए मध्यकालीन नुस्खों का प्रयोग करता है। इसके साथ साथ वह अहंकारी भी है। उसे अपने ज्ञान का अहंकार है। लेकिन यह ज्ञान चूंकि स्वयंभु नहीं है। मुक्तिबोध ने बार बार कहा है कि ज्ञान चेतना की वह स्थिति है जहां पर बाहरी सत्य और भीतरी सत्य को जान लिया जाता है। लेकिन मध्यवर्ग खुद को नहीं जानना चाहता, उसने ज्ञान को संग्रहीत किया है। जब भी बाहर से ज्ञान लिया

जायेगा अनिवार्यतः वह अहंकार पैदा करेगा। इस अहंकार के कुछ संकेत कविता में दिये गये हैं। इस ज्ञान के भ्रम के कारण जो स्थितियां दिखाई पड़ती हैं उसमें से एक है –

किन्तु, गहरी बावड़ी
की भीतरी दीवार पर
तिरछी गिरी रवि-रश्मि
के उड़ते हुए परमाणु, जब
तल तक पहुँचते हैं कभी
तब ब्रह्मराक्षस समझता है, सूर्य ने
झुककर 'नमस्ते' कर दिया।'

जब कभी सूर्य की किरणों का कोई परमाणु जब तल तक पहुंचता है तो वह महसूस करता है कि सूर्य ने मुझे नमस्कार किया है।

मध्यवर्ग इतिहास के सभी स्रोतों का ग्राहक है। लेकिन जो इस ज्ञान संपदा में अनुपस्थित है वह है उसके आचरण की प्रामाणिकता। इस संघर्ष के बिना यह समूचा ज्ञान ही उसके कैद के रूप में तबदील हो जाता है। ज्ञान मुक्त करता है अगर जीवन से जुड़े तब। ज्ञान भार बनता है अगर वह जानकारी के स्तर पर है। इसलिए ब्रह्मराक्षस इस अकर्मक ज्ञान से घिरा हुआ है।

इस तरह से इस ब्रह्मराक्षस को हम बाहर निकाल कर देखेंगे तो प्रशासन में, विश्वविद्यालय में, धर्म में, राजनीति में जो लोग दिखाई पड़ रहे हैं वे इसी के विस्तार हैं क्योंकि सकर्मकता से यह ज्ञान शून्य हो गया है। इस दौर में हम देखते हैं कि कहीं कोई संघर्ष नहीं है। कहीं कोई परिवर्तन की गुंजाइश नहीं है। बड़े प्रश्न अनुपस्थित हो गये हैं जब कि स्थितियां ज्यादा खतरनाक हैं।

इस तरह कविता यहां आकर अपना रूप बदलती है। जब ब्रह्मराक्षस समझ लेता है कि जानकारी पर्याप्त नही है तो वह सक्रिय होने की कोशिश करता है। वह चढ़ना उतरना शुरू करता है। बाहर कभी नहीं निकलता। इसका अर्थ है कि वह कभी अपने वर्ग का अतिक्रमण नहीं कर पाता। मुक्तिबोध ने इस सक्रियता को चित्रित किया है –

खूब ऊंचा एक जीना सांवला
उसकी अंधेरी सीढ़ियां .....
वे एक आभ्यंतर निराले लोक की।

ये बाहर ही नहीं भीतर की सीढ़ियां हैं।

एक चढ़ना औ उतरना
पुनः चढ़ना और लुढ़कना
मोच पैरों में
व छाती पर अनेकों घाव।

इसमें पैर में चोट लग गयी है छाती में घाव हो गये हैं।

कविता के दूसरे अंश में जब वह महसूस कर रहा है कि यह ज्ञान उसे मुक्ति नहीं दे पा रहा है बल्कि उसकी निरर्थकता की चेतना को यह ज्ञान अधिक संघनित कर रहा है तो वह सक्रिय होने का निर्णय लेता है। लेकिन यह सक्रियता एक निराले आभ्यांतर लोक में सक्रियता है। बाहर जहां जिन्दगी की गति है, वहां नहीं भीतर ही चढ़ना उतरना शुरू करता है। इस प्रक्रिया में उसके पैर में मोच है और छाती में घाव हैं। यह मध्यवर्गीय सक्रियता या ब्रह्मराक्षस की यह सक्रियता सिसिफस के मिथक में व्याख्यायित हो सकती है।

लेकिन सिसिफस को अंत तक कभी भी सफलता नहीं मिलने का अभिशाप है। लेकिन यहां ब्रह्मराक्षस को आंशिक सफलताएं मिलती हैं। ब्रह्मराक्षस को कुछ सफलताएं उपलब्ध होती हैं इसका अर्थ है कि जो छोटी सक्रियताएं हैं वे नितांत अर्थहीन नहीं होतीं जो क्रांति का महास्वप्न है उस महास्वप्न के संदर्भ में या परिप्रेक्ष्य में छोटी सक्रियताओं या सफलताओं का अर्थ खत्म नहीं होता। इसलिए मुक्तिबोध ने 'एक साहित्यिक की डायरी' में लिखा है कि रचनाकार सूर्य के चित्र को आंके। अगर उसकी आंखें सूर्य की रोशनी को नहीं आंक पातीं या साध पातीं तो ढिबरी का जो धीमा प्रकाश है, रचनाकार को उसी का चित्रण करना चाहिए। इसलिए जरूरी नहीं है कि सक्रियता क्रांति तक ले जाए। इसलिए मुक्तिबोध ने ब्रह्मराक्षस की सक्रियता को समादृत किया है। सक्रियता में उपलब्ध छोटी सफलताएं बड़ी असफलताओं का बोध कराती है। अगर सक्रियता ही नहीं है तो उपलब्धि और खोने का बोध खो जाएगा। लेकिन सक्रियता अगर छोटी उपलब्धि तक ले जाती है तो बड़ी अनुपलब्धि का बोध जागृत होता है। लेकिन यह सक्रियता ब्रह्मराक्षस को एक गहरी हताशा के बीच ले आती है। सक्रियता हमारे ज्ञान के अहंकार को मिटाने का एक महत्वपूर्ण माध्यम है। जब हम कुछ भी नहीं जानते हैं तो लगता है सब कुछ जानते हैं। लेकिन जब जानने लगते हैं तो लगता है कि कुछ भी नहीं जानते। इसलिए जब वह सक्रिय होता है, आचरण को सक्रियता से जोड़ता है तब जीवन में नये प्रकार के तनाव और उदासियां अवतरित होती हैं। इसलिए जो भीतरी या बाहरी स्तर पर सक्रिय है वह तनाव में रहने के लिए अभिशप्त है। जब तक ब्रह्मराक्षस अपने

ज्ञान के अहंकार में कैद है तब तक वह चिंतामुक्त दिखाई देता है लेकिन जब वह सक्रिय होता है तो परिदृश्य बदल जाता है चेतना में हताशाएं उतरती हैं –

'रवि निकलता
लाल चिंता की रूधिर सरिता
प्रवाहित कर दीवारों पर।'

अब सूर्य निकलता है तो लगता है कि किरणें बावड़ी की दीवारों पर लाल नदी प्रवाहित कर रही हैं।

मुक्तिबोध का संकेत यह है कि अकर्मक जीवन और सकर्मक जीवन, ये मात्र स्थितियां नहीं हैं बल्कि जीवन को देखने और जीवन को व्याख्यायित करने की दो अलग अलग धूरियां भी हैं। जिस पर से एक ही जीवन अलग अलग दिखाई देता है। निष्क्रियता, अहंकार और अकर्मक कर्म के बिंदु से जो परिदृश्य दिखाई पड़ रहा था वह अलग दिखाई पड़ रहा है। सूरज अब भी निकलता है लेकिन वह बावड़ी की दीवारों पर खून की नदी प्रवाहित करता दिखाई देता है। चांद उगता है लेकिन ऐसा लगता कि उसके घावों पर सफेद पट्टियां बांध रहा हो। इस प्रक्रिया में कविता जहां अंत की ओर बढती है जब वह घायल हो गया है, पैरों में मोच और छाती में घाव है, अन्ततः वह मारा जाता है –

'मारा गया वह काम आया
और वह पसरा पड़ा है,
वक्ष बाहें खुली फैली
एक शोधक की।'

संकेत है कि वह मुक्ति संघर्ष में मारा गया है और इस तरह से युग बदल गया। ब्रह्मराक्षस की मौत के बाद युग बदलने की सूचना दी गई है – "किन्तु युग बदला वह आया कीर्ति व्यवसायी।" व्यवसायी युग का आगमन हुआ।

अगर इतिहास के संदर्भ में देखें और आज इस कविता की व्याख्या करें तो ब्रह्मराक्षस में कम से कम एक अपराधबोध था। मध्यवर्ग के इतिहास का एक चरण ऐसा भी था जिसमें अपराधबोध था, छोटी मोटी सक्रियताएं थीं, उनकी कुछ उपलब्धियां भी थीं। लेकिन एक दूसरा चरण आया जिसमें वह मध्यवर्ग मर गया। जिसमें अब कोई अपराधबोध नहीं है जिसमें कम से कम युग के परिवर्तन में कोई प्रतिरोध नहीं दिखाई दिया। इस तरह से विशुद्ध पूंजीवाद आया।

"श्री उत्कर्ष I.A.S."

'किन्तु युग बदला व आया कीर्ति व्यवसायी,
लागकारी कार्य में से धन
व धन में हृदय मन
और धन अभिभूत अन्तःकरण में से
सत्य की झाई
निरंतर चिलचिलाती थी।'

सारांश है कि किस तरह से पूंजीवाद का आगमन हुआ ? जिस क्षण इतिहास के जिस दौर में मध्यवर्ग का यह अपराधबोध खत्म हुआ पूंजीवाद का आगमन उसी बिंदु पर हुआ। इसलिए पूंजीवाद का जो विस्तार है या आगमन है वह समूचे इतिहास की प्रक्रिया में मध्यवर्ग की दुर्भाग्यपूर्ण तटस्थता का परिणाम है।

जो ब्रह्मराक्षस था वह दो कारणों से मारा गया... पिस गया भीतरी और बाहरी दो कठिन पाटों बीच। भीतर का संघर्ष बोध था और बाहर के सामाजिक दबाव थे। आन्तरिक नैतिक चेतना और बाहरी परिस्थितियों के बीच में पिस गया। वह इसका शिकार हुआ। इसलिए ब्रह्मराक्षस एक आत्मचेतन समाज और इतिहास के प्रति एक नैतिक चेतना से संयुक्त मध्यवर्गीय बोध है जो नष्ट हुआ क्योंकि इस आन्तरिक नैतिकता को संघर्ष का आयाम नहीं दे पाया और बाहरी स्थितियों के प्रति तटस्थ भी नहीं रह पाया। नैतिकता थी लेकिन उसके लिए उसके पास शक्ति नहीं थी और बाहर को वह ज्यों का त्यों स्वीकार नहीं कर पाया। इसलिए दो पाटों के बीच वह मारा गया। मुक्तिबोध की कविताओं में प्रायः इस तरह की स्थितियां आती हैं। मुक्तिबोध लिखते हैं कि जब वाचक कमरे में पहुंचता है तो देखता है कि सिर में गोली लगी हुई थी, वह बहुत ईमानदार था, किसी का दुश्मन भी नहीं था, अच्छे चरित्र वाला था फिर भी वह मारा गया । कोई भी अच्छाई और नैतिकता अगर सामाजिक व्यवस्था से प्रतिरोध में नहीं है या कोई भी नैतिक व्यवस्था सक्रिय प्रतिरोध और संगठित प्रतिरोध नहीं करती तो वह मारी जायेगी, यह मुक्तिबोध की स्पष्ट धारणा है। नैतिकता और अच्छाई का सार्थक प्रयोग एक संगठित संघर्ष चेतना में है। इसलिए नैतिकता नितांत वैयक्तिक स्तर पर है तो वह व्यक्ति को व्यवस्था के कोप से सुरक्षित नहीं रह सकती। बल्कि वे पहले मारे जायेंगे। ब्रह्मराक्षस भी भीतरी ईमानदारी को बाहरी संघर्ष से नहीं जोड़ पाता, यह उसकी विडम्बना है। वह व्यवस्था को ज्यों का त्यों स्वीकार भी नहीं करता, और अपनी ईमानदारी को संघर्ष से जोड़ भी नहीं पाता। अंत में वाचक का वक्तव्य है :—

'बावड़ी में वह स्वयं
पागल प्रतीकों में निरंतर कह रहा
वह कोठरी में किस तरह
अपना गणित करता रहा
और मर गया।'

जो व्यवस्था की वास्तविक समझ है उससे अलग गणित करता रहा। जो लोग समाज के गणित और इतिहास के गणित से अनभिज्ञ होकर अपने गणित को अंतिम मान लेते हैं उनका अप्रमाणिक होना अपरिहार्य है।

वह मरा कैसे –

'वह सघन झाड़ी के कंटीले
तम–विवर में
मरे पक्षी सा।'

जैसे झाड़ियों में उलझ कर कोई पक्षी मर गया हो। ये झाड़ियां उसका अन्तर्द्वन्द्व है, उसके अनिर्णय हैं, उसके उलझाव हैं। अपने ही अन्तर्द्वन्द्व में और उलझा हूं मैं। 'इसका अर्थ है अन्तर्द्वन्द्व से, उलझावों से, भटकावों से मुक्ति का एक ही रास्ता है वह है संगठित संघर्ष का रास्ता।' "वह ज्योति अनजानी सदा को सो गई यह क्यों हुआ यह क्यों हुआ।" एक दर्शक के रूप में कवि यह सवाल करता है, यह क्यों हुआ, क्यों हुआ ?

जैसे मृत्यु के कारणों की जानकारी पर बहुत बल दिया गया है। तब कहता है – "मैं ब्रह्मराक्षस का सजल उर शिष्य होना चाहता।" मैं चाहता हूं कि ब्रह्मराक्षस का सजल उर शिष्य बनें। एक शिष्यता मात्र धरातल पर होती है, सजल उर शिष्य का अर्थ है कि मैं हृदय से शिष्य होना चाहता हूं। संवेदना के स्तर पर शिष्य होना चाहता हूं। शिष्यता का अर्थ है कि गुरू ने जिस समस्या को जहां छोड़ा है उस समस्या के उत्तर की खोज में ब्रह्मराक्षस ने इतिहास को या मध्यवर्ग को उस बिन्दु पर छोड़ा है जहां पर उसकी ईमानदारी है। मैं इस ईमानदारी को संगठित संघर्ष से जोड़ना चाहता हूं। यही सजल उर शिष्य होना है। गुरू ने चेतना को उस बिन्दु तक ले आने की कोशिश की जहां ईमानदारी से भरा हुआ एक संघर्ष है लेकिन यह नितांत आंतरिक है, संगठित नहीं है। मैं इस संघर्ष को एक सांगठनिक आधार देना चाहता हूं।

मुक्तिबोध ने 'अंधेरे में' कविता में भी इसे मध्यवर्ग की विडम्बना कहा है कि वह सोचता बहुत है, लेकिन कभी भी संगठित संघर्ष नहीं कर पाता जब कि मनुष्य विरोधी शक्ति बहुत संगठित

है। 'अंधेरे में' कविता में जिस प्रोशेशन का जिक्र किया गया है उसमें बहुत लोग शामिल हैं। उसमें राजनेता, पत्रकार, पुलिस वाले, साहित्यकार, सेनानायक हैं, कवि हैं, शहर का गुण्डा है। ये रात में एक साथ रहते हैं और दिन में अलग अलग दफतरों में बैठ कर देश चलाते हैं। इन सब में एक आन्तरिक संगति है। वे शोषक हैं। लेकिन जो संवेदनशील हैं और ईमानदार हैं उनका कोई संगठन नहीं है। दूसरे चरण में सक्रिय होने की कोशिश करता है। उसकी सक्रियता आती है। इसलिए पहले चरण तक अपनी भूमिका तय करने के बाद वह महसूस करता है कि इससे चिंता दूर नहीं हो पा रही है तो सक्रिय होने का निर्णय करता है। लेकिन यह सक्रियता भी गलत बिंदु पर है क्योंकि यह आन्तरिक सक्रियता है जो समाधान नहीं देती। इसलिए जब वाचक कहता है कि मैं उसका सजल उर शिष्य होना चाहता हूं तो उसका सीधा अर्थ है कि गुरू ने जिस ईमानदारी से संघर्ष को आंतरिक स्तर पर लागू किया मैं उसे संगठित स्तर पर लागू करना चाहता हूं जिससे कि उसका अधूरा काम पूरा कर सकूं। उस ईमानदारी का प्रयोग व्यवस्था परिवर्तन के लिए हो। इसलिए अपने गुरू के आन्तरिक संघर्ष को मैं ऐसा संगठनिक आधार देना चाहता हूं जिसके आधार पर मूलतः व्यवस्था और वर्ग का चरित्र बदल सके।

ब्रह्मराक्षस का शिल्प

नई कविता में मुक्तिबोध जटिल शिल्प संरचना के सबसे महत्वपूर्ण कवि हैं और इसका मूल कारण उनके विचारों और अनुभवों का जटिल और द्वन्द्वात्मक होना है। उनकी कविताओं में विचार, अनुभव, स्मृति और प्रतिबद्धता का एक ऐसा दुरुह और जटिल विधान है कि ये कविताएं एक रहस्यमय अबूझ जंगल का आभास देती हैं। मुक्तिबोध की कविता की प्रकृति वस्तुतः खण्डहरों एवं आदिम जंगलों की है, इसलिए ये कविताएं अपनी प्रभाव और संरचना में नितांत उलझी हुई प्रतीत होती हैं।

मार्क्सवादी प्रतिबद्धता के बावजूद मुक्तिबोध की कविताओं का शिल्पविधान कथ्य के इकहरेपन के प्रति जवावदेह न होकर परिवेश की संश्लिष्टता और अभिव्यक्ति के अर्थ-आयामों के प्रति जवावदेह है। शिल्प उनकी कविताओं का एक स्वतंत्र पहलू है। उनकी शिल्प और वस्तु की सम्बन्ध-चेतना मार्क्सवादी धारणा से अलग है। मुक्तिबोध शिल्प को रचना की एक महत्वपूर्ण चुनौती के रूप में स्वीकार करते हैं। उनके यहां शिल्प महज रूप का मसला नहीं है।

कविता की रचना प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा कि कला के तीन क्षण होते हैं - 1. यथार्थ का तीव्र अनुभव, 2. यथार्थ से तटस्थता और 3. उस यथार्थ के शब्दबद्ध होने की प्रक्रिया की शुरूआत और उसकी परिणति। रचनाकार की वास्तविक चुनौती कला के तीसरे क्षण में होती है, यथार्थ के शब्दबद्ध होने की प्रक्रिया में। मुक्तिबोध शिल्प के प्रति अत्यन्त जागरूक और सचेष्ट कवि हैं। प्रगतिवादी रचनाकारों से विपरीत उनका शिल्प विधान अपनी संरचना में जटिल, बहुआयामी और रहस्यमय दिखाई देता है।

भाषा :

मुक्तिबोध सीधी सपाट और सामान्य भाषा के साथ उसका एक बेहद जटिल और तत्समी रूप की रचना करते हैं। सरसता या सपाटता और जटिलता का सहअस्तित्व मुक्तिबोध की काव्यभाषा की पहचान है। इसलिए उनकी भाषा में एक विशेष प्रकार की अनगढ़ता और उसी अनुपात में उतनी ही अनुशासन-प्रियता दिखायी देती है। वह भाषा के प्रति संयत व संवेदनशील कवि हैं। कविता की भाषिक संरचना में अनुभूति की सत्ता को निर्णायक मानते हैं। मुक्तिबोध की भाषा अनुभूतियों के दबाव और तनाव के प्रति जवाबदेह दिखाई देती है।

उनकी भाषा का विधान खुला हुआ है। उसमें संस्कृत, अंग्रेजी, उर्दू, मराठी, तद्भव और देशज शब्दों के सहारे हिन्दी भाषा की सीमाओं का विस्तार किया गया है। बड़ा रचनाकार अपने भाषा के क्षितिज को बड़ा करता है, मुक्तिबोध ने उपलब्ध सीमाओं को विस्तृत कर दिया है। छायावादियों द्वारा छोड़ी हुई भाषा-सीमा को दूर तक ले जाते हैं। मुक्तिबोध की काव्यभाषा का स्रोत परिवेश का वह यथार्थ संसार है जिसमें कवि रहता है। भाषिक-कृत्रिमता के स्थान पर कथ्य और अनुभव को अधिक संप्रेषणीय बनाने वाली जीवन भाषा के प्रयोग पर बल देते हैं।

तत्समता और स्थानीयता :

बावड़ी की इन मुंडेरों पर
मनोहारी कुहनी टेक
बैठी है टगर
ले पुष्प-तारे-श्वेत

तत्समय : अति प्रफुल्लित कंटकित तन-मन वहीं

पर्याप्त वैविध्य और इसके कारण पर्याप्त अर्थ संभावनाएं दिखाई देती हैं.

मुक्तिबोध के भाषिक संसार में।

फैंटेसी : मुक्तिबोध के शिल्प विधान का चर्चित और अपवादिक विशेषता। ब्रह्मराक्षस मुक्तिबोध की सभी रचनाओं में एकमात्र 'सम्पूर्ण फैंटेसी' है। फैंटेसी का आद्यन्त निर्वाह सिर्फ ब्रह्मराक्षस में है।

फैंटेसी मनोविज्ञान का शब्द है। अवचेतन से संबद्ध। कॉलरिज ने साहित्य में सर्वप्रथम प्रयोग किया। मनोविज्ञान में, जो विशृंखलित स्वप्न हैं उन्हें फैंटेसी कहा गया है। कल्पना का भी एक अनुशासन होता है उसमें भी एक कार्यकारण शृंखला होती है, देशकाल से अनुशासित एक तार्किकता होती है। इसका एक और प्रकार भी हो सकता है जिसमें कल्पनाएं देशकाल से विच्छिन्न होती हैं।

फैंटेसी का पहला रचनात्मक प्रयोग फ्रांस के सुररियलिस्ट (अतियथार्थवादी) आंदोलन के सबसे महत्वपूर्ण कवि मलार्मे ने किया। मलार्मे के अनुसार कविता, विचार, भाव, कल्पना के प्रति जवाबदेह नहीं, बल्कि अवचेतन के प्रति जवाबदेह है। अवचेतन चूंकि विशृंखलित होता है, इसलिए कविता में भी कोई शृंखला नहीं होनी चाहिए। काल के लगभग अतार्किक आयामों को छूने की सुविधा फैंटेसी में है।

मुक्तिबोध परम फैंटेसी का प्रयोग करते हैं। फैंटेसी वस्तुत: रूपवादियों का शिल्प है। मार्क्सवाद इसे प्रतिक्रियावादी कहता है। मुक्तिबोध ने इसका स्पष्टीकरण दिया :

1. कविता के उपलब्ध शैल्पिक विधान में यथार्थ की अभिव्यक्ति संभव नहीं है। दूसरे तरह के औजार अपेक्षित हैं। यथार्थ जटिल और गतिशील होता है। इसे किसी स्थिर शिल्प विधान के माध्यम से व्यंजित नहीं किया जा सकता। फैंटेसी से यथार्थ की गतिशीलता तेज नहीं भाग सकती। काल और स्थान को फैंटेसी में अत्यधिक तेजी से पकड़ने की क्षमता है। फैंटेसी में यथार्थ की गतिमयता में, उसकी पूरी रहस्यमयता में पकड़ने की क्षमता है।

2. फैंटेसी के प्रयोग से रचनाकार चित्रण की प्रदीर्घता से बच जाता है। अभिव्यक्ति में लाघवता और सांकेतिकता फैंटेसी के माध्यम से प्रयुक्त की जा सकती है।

ब्रह्मराक्षस फैंटेसी का सर्वाधिक उपयुक्त प्रतिमान है। इस कविता में ब्रह्मराक्षस इतिहास और वर्तमान, स्वप्न और यथार्थ के अनेक जटिल प्रसंगों को फैंटेसी के कारण धारण करता है। यह ब्रह्मराक्षस मनुष्य की आदिम कल्पना है और आस्वस्ति का प्रतिनिधि है। लेकिन साथ ही साथ वह नितान्त नए बौद्धिक वर्ग का अर्थ संवहन करता है। **आदिमता और वर्तमानता** का यह अंतर्लयन फैंटेसी के कारण संभव हो पाया है। **रहस्यमयता** फैंटेसी का महत्वपूर्ण तत्व है। ब्रह्मराक्षस का रचनात्मक विधान ही रहस्यात्मक है। **खंडहरों, सूनी बावड़ी, बावड़ी** के आसपास घने और पुराने वृक्ष तथा लताएं, सन्नाटा और एकांत के माध्यम से मूर्त किया गया है रहस्यात्मकता को। पूरी कविता की परिवेश रचना पर एक भूतैले रोमांच का प्रभाव दिखाई देता है। आदि से अंत तक यह कविता परिवेश की रोमांचकारी, एकांतिक और सन्नाटेदार स्थितियों से गुजरकर सम्पन्न होती है।

अर्थ संरचना के स्तर पर ब्रह्मराक्षस की तीसरी उपस्थिति

ब्रह्मराक्षस
घिस रहा है, देह हाथ के पंजे, बराबर
बांह-छाती-मुंह छपाछप
खूब करते साफ,
फिर भी मैल।।

मुक्तिबोध यहां एक जैविक प्रक्रिया को ऐतिहासिक अनुभूति और वास्तविकता में रूपान्तरित कर देते हैं। यह मैल और देह मात्र दैहिक नहीं बल्कि इसका संकेत इतिहास में मध्यवर्ग की भूमिका से है। फैंटेसी के कारण ही अर्थ संभावनाओं की इतनी व्याप्ति संभव हो सकी है, जहां नहाना भी एक ऐतिहासिक स्थिति को अभिव्यक्त करने लगे। फैंटेसी के कारण ही यह संभव है।

ब्रह्मराक्षस की मौत और उसके अधूरे कार्यों को पूरा करने का स्वप्न का एक प्रतीकात्मक अभिप्राय है जिसको मुक्तिबोध ने फैंटेसी में धारण किया है। व्यक्तित्वांतरण के बिना विचार और ज्ञान

की कोई मानवीय और सामाजिक भूमिका संभव नहीं। इस व्यक्तित्वांतरण की पहली शर्त है, सामाजिक संघर्ष और सामाजिक यथार्थ के साथ एक सघन और जीवित संपृक्ति। इस कविता का संकेत आने वाली दुनिया में बुद्धिजीवियों की भूमिका और उनकी दायित्वशीलता से जुड़ा हुआ है। इतिहास के भटकावों और विभ्रमों को संघर्ष और संबद्धता के माध्यम से ही सुधारा जा सकता है। उनका ठीक नियमन किया जा सकता है। यही इस कविता का ठीक अभिप्रेत है। कथा और घटनाओं के एक कुहरीले परिवेश के माध्यम से हम वास्तविक दुनिया में मध्यवर्ग या बुद्धिजीवी की भूमिका की पहचान कर पाते हैं - इसका श्रेय फैंटेसी शिल्प को है।

नाटकीयता : मुक्तिबोध के काव्यशिल्प का एक विशिष्ट आयाम है। अज्ञेय से विपरीत मुक्तिबोध की कविताएं एक नाटकीय विन्यास में सम्पन्न होती हैं। दृश्य की सघन योजना, गति, तनाव और द्वन्द्व इस नाटकीयता के मुख्य बिन्दु हैं। ब्रह्मराक्षस नाटकीयता की दृष्टि से मुक्तिबोध की महत्वपूर्ण कविताओं में से एक है। रंगमंचीय दृश्य से कविता की शुरूआत होती है :

शहर की उस ओर परित्यक्त
सूनी बावड़ी
के भीतर
ठंडे अंधेरे में
बसीं गहराइयां जल की
सीढ़ियां डूबी अनेकों
उस पुराने घिरे पानी में।

यह बिल्कुल नाटकीय दृश्य से शुरूआत है। इसमें दृश्य योजना का एक सघन अनुशासन दिखाई देता है। दृश्य की एक प्रभावशाली और विविधता से सम्पन्न प्रसंगों को धारण करती है। इस दृश्य-योजना में प्रकृति और मानवीय हरकतों की मिली जुली उपस्थिति दिखाई देती है। तनाव और द्वन्द्व भी इसके नाटकीयता के महत्वपूर्ण पक्ष हैं।

तनाव : मस्तक की लकीरें
बुन रहीं

आलोचनाओं के चमकते तार !!
उस अखंड स्नान का पागल प्रदाह
प्राण में संवेदना है स्याह !!

तनाव को भी बार-बार ले आते हैं।

अचानकता : नाटकीय विधान की एक तकनीकी है, जिसका प्रयोग ब्रह्मराक्षस में किया गया है। अचानकता का अर्थ है किसी भी स्थिति और घटना का सहसा घटित हो जाना। इस सहसापन को मुक्तिबोध ने सभी कविताओं की तरह ब्रह्मराक्षस में नियोजित किया है :

इसके पास
लाल फूलों का लहकता और
मेरी वह कन्हेर . . . .
वह बुलाती एक खतरे की तरफ जिस ओर
अँधियारा खुला मुंह बावड़ी का
शून्य अंबर ताकता है।

इस तरह से मुक्तिबोध की कविताएं नाटकीय योजना के अनेक संदर्भों को कविता के स्तर पर गूंथती हैं और एक नाटकीय आस्वाद उपलब्ध कराती हैं। घटनाओं की योजना के आरोह-अवरोह में जिस संशय, अनहोनी और अप्रत्याशित को योजित किया है वह ब्रह्मराक्षस के नाटकीय विधान का महत्वपूर्ण संवृत है।

काव्यरूप : मुक्तिबोध की सभी कविताएं लंबी हैं। काव्यरूप लम्बी कविताओं का है। ये प्रबन्ध योजना की ही नई कड़ी है। परम्परागत प्रबन्ध चेतना के अपर्याप्त रह जाने के कारण लम्बी कविता की ऐतिहासिक जरूरत महसूस हुई, इसलिए इसमें प्रबन्ध और कथ्य के एक नए अनुशासन को संभव बनाया गया। **कथा का विकास स्वयं करती हैं लम्बी कविता। पुराने प्रबंधों में कथा ज्ञात होती है।**

लम्बी कविता का रचना विधान कथ्य की अभिव्यक्ति के लिए नई संभावनाओं का निर्माण करता है। वे कवि के अभिप्रेत और संगठन की नई चुनौतियों को धारण करती हुई रूप ग्रहण करती हैं।

इसलिए वे कथाकाव्य नहीं होतीं. फिर भी उनमें एक कथा होती है। लम्बी होने का कारण : "मैं छोटी कविताएं नहीं लिख पाता. जो छोटी कविताएं हैं वे अधूरी कविताएं हैं। यथार्थ के अत्यन्त जटिल. गतिशील और बहुआयामी होने के कारण तथा तनावपूर्ण संघातों के कारण मेरी कविताएं लम्बी होती चली जाती हैं।" - मुक्तिबोध

यथार्थ की जटिलता और तनाव से संचालित होने के कारण रूप के निश्चित विधान का अतिक्रमण करता है उनका काव्यरूप। यथार्थ के प्रति अत्यन्त संवेदनशील होने के कारण उसे पकड़ने की कोशिश में कविताएं लम्बी होती चली जाती हैं। मोटे तौर पर लम्बी कविताओं के अंतर्गत उनका काव्य रूप रखा जा सकता है। किन्तु लम्बी कविताओं की औसत अवधारणा का अतिक्रमण करती हैं।

ब्रह्मराक्षस मुक्तिबोध की अन्य लम्बी कविताओं की तुलना में छोटी है। इसमें एक रचनात्मक संयम और कथा का एक अखंड निर्वाह दिखाई देता है। इसलिए ब्रह्मराक्षस का रूपबंध अपेक्षाकृत अधिक सशक्त और प्रभावशाली है।

बिम्ब :

मुक्तिबोध को ठोसदने बिम्बों का कवि कहा गया है। उनकी कविताएं प्रकृति और परिदृश्य की भयावनी तस्वीर प्रस्तुत करती हैं। अपनी बिम्ब योजना को एक कलात्मक सुघड़ता के बिन्दु पर नहीं बल्कि एक विशेष प्रकार की भयावहता. रहस्यमयता और रोमांच के बिन्दु पर निर्मित करते हैं। उनकी बिम्बों में प्राकृतिक दृश्य है. जंगली वातावरण. खंडहरों. सन्नाटे और भय की सघन उपस्थिति दिखाई देती है। ब्रह्मराक्षस भी मुक्तिबोध की बिम्ब संरचना की एक सफल रचना है :

स्थिर दृश्य बिम्ब :

बावड़ी को घेर
डालें खूब उलझी हैं
खड़े हैं मौन औदुम्बर।
व शाखों पर
लटकते घुग्घुओं के घोंसले

परित्यक्त, भूरे गोल।।

गतिशील दृश्य बिम्ब :

ब्रह्मराक्षस
घिस रहा है देह
हाथ के पंजे, बराबर
बांह-छाती, मुंह-छपाछप
खूब करते साफ

रहस्यात्मकता और भयावहता:

खूब ऊंचा एक जीना सांवला
उसकी अंधेरी सीढ़ियां . . . .
वे एक आभ्यंतर निराले लोक की
एक चढ़ना औ' उतरना
पुनः चढ़ना औ' लुढ़कना।।

मुक्तिबोध ने गणित और विज्ञान के कई संदर्भों को भी बिम्ब के रूप में प्रयोग किया है:

सितारे आसमानी छोर पर फैले हुए
अनगिनत दशमलव से
दशमलव-बिंदुओं के सर्वतः
पसरे हुए उलझे गणित के मैदान में . . .

प्रतीक :

सामान्यतः पुराने प्रतीकों का प्रयोग किन्तु अर्थ नया है। मुक्तिबोध पारम्परिक उपमानों में नए अर्थ का विनिवेश करते हैं। एक साथ बहुत पुराने और अर्थ के स्तर पर बहुत नए प्रतीक हैं। ब्रह्मराक्षस पुराना शब्द है। किन्तु उसका प्रतीकात्मक अर्थ बिल्कुल नया है। उसका अर्थ बौद्धिक वर्ग है। अपने अस्तित्व में जितना आदिम है, अपने अर्थ में उतना ही आधुनिक है।

बावड़ी सामान्यत: अवचेतन के प्रतीक में आई है। 'मैल' - अपराध बोध या वह संदिग्ध आचरण जो जीवन के संघर्ष और सक्रियता से विच्छिन्न आचरण को ही मैल कहा गया है।

'सीढ़ियों' का प्रयोग - विचारों के ढांचे हैं जिन पर एक निष्क्रिय संघर्ष विच्छिन्न बौद्धिक गति का आभास और अभ्यास करता है।

अप्रस्तुत योजना : कोई विशेष प्रसंग दिखता नहीं लेकिन ब्रह्मराक्षस की अप्रस्तुत योजना की चर्चा बिम्बों और प्रतीकों के भीतर की गई है।

छन्द :

नई कविता के अन्य कवियों की तरह मुक्तिबोध के रचनाविधान में पारम्परिक छन्दों का निर्वाह नहीं किया गया है। यह आरोप भी है कि उनमें गद्य की नीरसता और अनगढ़ता मौजूद है - लेकिन मुक्तिबोध की कविताओं में लय की एक स्वाभाविक गति है जो छन्द के अभावों की पूर्ति करती है। एक विशेष प्रकार का वैचारिक आवेग है जो अर्थ के साथ-साथ शब्द-योजना को भी गतिशील करता है। इस दृष्टि से ब्रह्मराक्षस कविता और लय के आपसी सम्बन्धों का एक मानक प्रतिमान हो सकती है।

ब्रह्मराक्षस मुक्तिबोध की उन अपवाद कविताओं में से एक है जो रचना के सुगठन, फैंटेसी के अखंड प्रयोग, संप्रेषणीयता और रूपबंध के स्तर पर रचनात्मकता का एक नया प्रतिमान गढ़ती है। प्रभावशाली नाटकीयता लय-योजना और अर्थ की सघन अन्विति के कारण यह कविता मुक्तिबोध की ही नहीं बल्कि नई कविता की भी एक महत्वपूर्ण धरोहर है।

000

नागार्जुन

नागार्जुन

नागार्जुन हिन्दी की प्रगतिशील कविता और काव्यान्दोलन के स्तंभ के रूप में स्वीकार किए गए हैं। छायावाद के भाव संसारवादी कविता को पूरी तरह से विस्थापित करके औसत और सामान्य जिंदगी के साथ कविता का रिश्ता जोड़ने में नागार्जुन की भूमिका ऐतिहासिक मानी गई है।

नागार्जुन की कविता के संबंध में ऐसा समझा जाता है कि उनका काव्य संसार जीवन के बाहरी धरातल और व्यवस्था के अनेक महत्वपूर्ण प्रश्नों से जुड़ा हुआ है। इसलिए नागार्जुन की कविताओं की प्रकृति घटनात्मक है। प्रगतिवाद के दो कवियों नागार्जुन और मुक्तिबोध में अगर तुलना की जाये तो लगता है कि मुक्तिबोध में अनुभव के स्थान पर विचारों व सिद्धांतों की प्रधानता है। लेकिन नागार्जुन अनुभव के आवेग के रचनाकार हैं।

उन्होंने अपनी समूची काव्य रचना एक मानवीय प्रतिबद्धता के रूप में रखी है। यह प्रतिबद्धता किसानों के प्रति दलितों, शोषितों एवं समाज के अभावग्रस्त वर्ग के प्रति है। इस प्रतिबद्धता को पार्टी से जोड़ कर नहीं देखा जा सकता। जनता के प्रति इसी प्रतिबद्धता के कारण नागार्जुन पार्टी की सीमाओं का अतिक्रमण करते हैं।अपनी कविता 'प्रतिबद्ध हूं' में वे कहते हैं

प्रतिबद्ध हूं
जी हां प्रतिबद्ध हूं
बहुजन समाज की अनुपम प्रगति के निमित्त।

जाहिर है यह प्रतिबद्धता संगठन को लेकर नहीं है बल्कि सामान्य जनता को लेकर है। इस संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि नागार्जुन की कविता आजादी के उस दौर में भी जब उसे लेकर कई प्रकार की रोमैंटिक और भाववादी स्वप्नशीलताएं मौजूद थीं, एक नये प्रकार के महाभारत का आख्यान रचती हैं।

ये कविताएं अपनी प्रकृति में सामान्य जनता की यातना और उसकी पीड़ाओं का आधार लेकर पूरे तंत्र से टकराने वाली कविताएं हैं। इसलिए इन कविताओं की समूची प्रकृति संघर्षधर्मी है। इनकी कविता मूलतः प्रतिपक्ष की कविता है और वह व्यवस्था, तंत्र तथा सत्ता के मुखौटे पर आक्रमण करती है। इसी संदर्भ में उनकी एक कविता है 'आजादी के बाद' जो गांधी को केंद्र में मानकर शासन चलाने की घोषणा करने वाली सत्ताधारी पार्टी के दोहरे चरित्र को उद्घाटित करती है। नागार्जुन ने इस दुहरेपन पर लगातार प्रहार किया –

"रामराज्य में अबकी रावण नंगा होकर नाचा है
सूरत सकल वही है भैया बदला केवल ढांचा है
नेताओं की नीयत बदली फिर तो अपने ही हाथों
भारतमाता के गालों पर कस कर पड़ा तमाचा है।"

यहाँ नागार्जुन की कविताओं में झूठ के मुखौटे के भीतर छिपे सच की ओर लगातार इशारा किया गया है –

"अन्दर अन्दर विकट कसाई बाहर खद्दरधारी"

इसलिए नागार्जुन की कविताओं को सामान्य जनता की तकलीफों और संघर्षों के अखबार के रूप में देखा जाना चाहिए। ये कविताएं आजादी के बाद के हिंदुस्तान के सच को एक सूचनात्मक विन्यास में प्रस्तुत करती हैं। और इस विन्यास में एक छिपा हुआ आक्रोश है। इस तरह ये कविताएं देश कानून और जनता की जिंदगी की सच्चाइयों का उद्घाटन करती हैं। नागार्जुन की कविता के स्वभाव और जनता के साथ उसके रिश्ते का एक अनुमान इन पंक्तियों से हो सकता है –

देश हमारा भूखा नंगा घायल है बेकारी से
मिले न रोजी रोटी भटके दर दर बने भिखारी से, देश हमारा .....
स्वाभिमान सम्मान कहां है बोली है इन्सान की
बदला सत्य अहिंसा बदली लाठी गोली डंडे हैं
कानूनों की सड़ी लाश पर प्रजातंत्र के झण्डे हैं।

यह इस देश के कानून और प्रजातंत्र की वास्तविक तस्वीर है।

इसलिए नागार्जुन की कविता काव्यशास्त्र की सभी सरहदों से बाहर निकल कर जीवन के प्रति अपनी प्रतिबद्धता को स्वीकार करती है। नागार्जुन कविता को जीवन के एक नये क्षेत्र में प्रवेश कराते हैं।

इस बात को पूर्ववर्ती कवियों से नागार्जुन की तुलना करके समझा जा सकता है। मैथिलीशरण गुप्त जब देश पर कविता लिखते हैं तो सामान्यतः हिमालय, समुद्र, नदियां अपनी महान परम्पराओं तथा पूर्वजों एवं अतीत के स्वर्णिम पृष्ठों को याद करते हैं। जिस देश की कल्पना मैथिलीशरणगुप्त के यहाँ है – "नीलाम्बर परिधान हरित पट पर सुन्दर है" के रूप में की गयी है और प्रसाद जिसे – 'अरुण यह मधुमय देश हमारा' कहते हैं, वह देश नागार्जुन के यहां भूखा, नंगा और बेकारी से घायल है।

इस तरह अब तक की कविताओं में कल्पित देश को नागार्जुन विस्थापित करते हैं। उनकी कविता में जो देश दिखाई पड़ रहा है, वह भाव केन्द्रित देश नहीं है वह सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक वास्तविकता है। एक तरह से यह देश अभाव से जूझते हुए मनुष्य से केन्द्रित देश है–

बीज नहीं है बैल नहीं है बरखा बिन अकुलाते हैं
पिछली कर्ज चुका न सके साहू की झिड़की खाते हैं।

इस तरह देश को लेकर जो भावात्मक उफान पूर्ववर्ती कविता में दिखाई देता है या देश की अवधारणा पर महानता, परम्परा, बलिदान, स्मृति का एक चमचमाता हुआ जो पवित्र पर्दा है नागार्जुन इसे तार तार करके अपनी कविता में देश के वास्तविक अर्थ का विन्यास करते हैं। इस तरह ये कविताएं मात्र चित्रण की कविताएं नहीं हैं, ये कविताएं अवधारणा को बदलने वाली कविताएं भी हैं।

नागार्जुन की कविता में आस्वाद की विविधता दिखाई देती है। नागार्जुन में काव्यभाषा की भी विविधता है। नागार्जुन संस्कृत, बंगला व मैथिली में भी उतनी ही मजबूती के साथ कविता लिख सकते थे जितनी कि हिन्दी में। इतना वैविध्य आस्वाद में, भाषा में और अनुभवों में भी बहुत कम कवियों में दिखाई देता है।

यह वैविध्य इसलिए भी है कि नागार्जुन अपनी प्रकृति से घुमक्कड़ व्यक्ति रहे हैं। घुमक्कड़ी ने ही उन्हें जीवंतता और अनुभव का वैविध्य दिया। कविता के आस्वाद और भाषा की विविधता का एक बहुत गहरा संबंध अनुभव की विविधता से है और अनुभव की यह विविधता कवि को हिन्दुस्तान के औसत मनुष्य के सच के करीब ले जाती है। इसलिए यह घुमक्कड़ी एक तरफ नागार्जुन में वैविध्य देती है और दूसरी तरफ आम जनता की तकलीफों का गवाह भी बनाती है।

नागार्जुन की काव्यचेतना का एक महत्वपूर्ण संदर्भ है **राजनीति**। नागार्जुन राजनीतिक चेतना के कवि माने गये हैं। राजनीति उनकी कविताओं के बहुत बड़े हिस्से को घेरती है। नागार्जुन एक ऐसे दौर के रचनाकार हैं जिस दौर में भारतीय मनुष्य की नीयत, उसकी तकलीफ और खुशियां राजनीति से निर्धारित होती हैं। इसलिए उन्होंने राजनीतिक पार्टियों पर, राजनीतिक व्यक्तियों पर, प्रजातंत्र पर, शासन व्यवस्था पर, यानी राजनीति के जितने तरह के भी आयाम हो सकते हैं, उन सभी आयामों पर कविताएं लिखी हैं।

उनकी कविताएं एक विद्रूपित राजनीति के चेहरे को बेनकाब करने वाली कविताएं हैं। इन राजनीतिक कविताओं की प्रकृति व्यंग्यात्मक है। स्वातंत्र्योत्तर भारतीय राजनीति में प्रजातंत्र बहुत चर्चित

शब्द है। इस प्रजातंत्र का आधार **चुनाव** है। नागार्जुन इस प्रजातंत्र और चुनाव की विसंगतियों को उद्घाटित करते हुए कविता लिखते हैं 'आए दिन बहार के' उनकी चर्चित कविता है–

"श्वेत श्याम रतनार अंखियां निहार के,
सिंडिकेटी प्रभुओ की धूर झार के
लौटे हैं दिल्ली से कल टिकट मार के
खिले हैं दांत ज्यूं दाने अनार के
आए दिन बहार के।"

जो प्रजातंत्र उम्मीदवार को बहारों की चौखट तक ले आए वह मनुष्य विरोधी प्रजातंत्र होगा।

इसके साथ साथ **सत्ता और जनता की तकलीफों में संबंधहीनता** को भी नागार्जुन ने बार बार रेखांकित किया है। उदाहरणार्थ –

हरिजन गिरिजन भूखो मरते हम डोले वन वन में
तुम रेशम की साड़ी डाटे उड़ती फिरो गगन में।

इन संदर्भों से बिल्कुल हट कर नागार्जुन ने बहुत सारी ऐसी कविताएं लिखी जिसमें एक औसत व्यक्ति की भाव चेतना की अभिव्यक्ति हुई है। सामान्य जीवन की अनुभूतियों की प्रतिष्ठा भी नागार्जुन की बहुत सारी कविताओं में दिखाई देती है। इस संदर्भ में उनकी एक बहुत चर्चित कविता है -

गुलाबी चूंडियां,
प्राइवेट बस का ड्राइवर है तो क्या हुआ
सात साल की बच्ची का पिता तो है।
सामने गेयर के ऊपर हुक से लटका रखी हैं कांच की चूड़ियां गुलाबी।
झुक कर मैंने पूछ लिया
खा गया मानो झटका अधेड़ उम्र का मुच्छड़ रोबिला चेहरा
आहिस्ता से बोला हां साहब लाख कहता हूं नहीं मानती हैं अंगुलियां
टांगे हुए हैं
कई दिनों से अपनी अमानत,
यहां अब्बा की नज़रों के सामने।

यह सामान्य वात्सल्य का प्रसंग है। नागार्जुन की संवेदना औसत वात्सल्य की दुनिया व सामान्य पारिवारिक अनुभूतियों को कविता के क्षेत्र में शामिल करती हैं। इसलिए गुलाब की चूडियां, खुरदुरे पैर, चंदू मैंने सपना देखा, जैसी कविताएं वे लिखते हैं।

औसत और सामान्य जीवन की प्रतिष्ठा नागार्जुन की काव्यचेतना का एक वैशिष्ट्य है।

लेकिन नागार्जुन जिन कारणों से बहुत अधिक चर्चित हुए वह कारण है **दलितों के प्रति उनकी पक्षधरता**। वर्णव्यवस्था में 20वीं शताब्दी की, अवर्णों और दलितों के प्रति जो नृशंसताएं बढ़ी हैं नागार्जुन की कविता उसका प्रतिरोध करती है और उस संदर्भ में एक अच्छा उदाहरण 'हरिजन गाथा' हो सकता है।

इस कविता का संदर्भ है बिहार का बेलछी हत्याकांड जिसमें एक लड़की समेत 13 हरिजनों को आग में जिन्दा जला दिया गया था। नागार्जुन की कविताओं को दलित पक्षधरता के संदर्भ में देखा गया है। अगर दलित हटा भी दें तो कहा सकते हैं कि नागार्जुन की कविताएं **अन्याय, क्रूरता के प्रतिरोध** की कविताएं हैं।

नागार्जुन की कविता संभवतः कल्पना से नहीं लिखी जाती। छायावाद की अनुभूति काल्पनिक है। पंत ने कहा था कि प्रत्येक महत्वपूर्ण अनुभूति काल्पनिक होती है। जबकि नागार्जुन कल्पना के आधार पर कविता नहीं लिखते। जीवन की परिस्थितियां और उन परिस्थितियों से उत्पन्न अनुभव ही नागार्जुन की कविता की मूल सामग्री है। भक्ति काव्य के बाद या कबीर के बाद पहली बार इस देश की सामाजिक व्यवस्था और चेतना में जड़ता की छिपी हुई क्रूरता को नागार्जुन की कविता देख पाती है। इसलिए भूख, यातना, अपमान ये नागार्जुन की कविताओं के विभाव कहे जा सकते हैं।

अपने एक साक्षात्कार में नागार्जुन ने कहा था कि मेरी कविता के संघर्ष का मूल लक्ष्य है जीवन में **सौंदर्य और प्रेम का अवतरण**। संघर्ष इसलिए क्योंकि प्रेम और सौंदर्य की दुनिया बनाई जा सके। इस तरह नागार्जुन अगर संघर्ष के कवि हैं तो सौंदर्य के भी।

नागार्जुन की सौंदर्य चेतना का सबसे व्यापक आधार है **प्रकृति**। घुमक्कड़ होने के नाते प्रकृति नागार्जुन के अनुभव संसार का अनिवार्य संदर्भ है। लेकिन नागार्जुन प्रकृति को भी एक अलग दृष्टि से देखते हैं। हिमालय का सौंदर्य नागार्जुन के यहां वैसा नहीं है जैसा कालिदास के यहां। नागार्जुन की प्रकृति या **नागार्जुन की सौंदर्य चेतना उनके सामान्य जीवन संघर्षों**

और अनुभवों से नियंत्रित है। नागार्जुन की काव्य–चेतना का एक और महत्त्वपूर्ण संदर्भ है – राजनीति। राजनीति वह व्यापक क्षेत्र है जिसमें नागार्जुन अपने समय, समाज और औसत मनुष्य की तकलीफों और यातनाओं को समझते और विश्लेषित करते हैं। उस राजनीति में व्यंग्य भी है जिसके सहारे वे व्यवस्था की जटिलताओं को पकड़ते व उधेड़ते हैं।

अकाल और उसके बाद – कई दिनों तक चूल्हा रोया चक्की रही उदास
कई दिनों तक कानी कुतिया सोयी उनके पास
कई दिनों तक लगी पीठ पर छिपकलियों की गस्त
कई दिनों तक चूहों की हालत रही सिकस्त।

यह अकाल है और इसके बाद – दाने आए घर के अन्दर कई दिनों के बाद
धुआं उठा घर के ऊपर कई दिनों के बाद
चमक उठी घर भर की आंखें कई दिनों के बाद
कौए ने खुजलाई पांखें कई दिनों के बाद।

'अकाल और उसके बाद' नागार्जुन की सबसे अधिक चर्चित कविताओं में से एक है। नागार्जुन के बारे में यह भी कहा जाता है कि नागार्जुन अखबारी या खबरों की कतरनों के कवि हैं। वे सामान्यतः तात्कालिकता के कवि हैं। इसलिए उनकी कविताओं की आयु बहुत छोटी है।

लेकिन जिन कविताओं ने नागार्जुन को तात्कालिकता से ऊपर उठाकर उन्हें स्थायी महत्व दिया है उसमें 'अकाल और उसके बाद' और 'बादल को घिरते देखा है' महत्त्वपूर्ण है। यह कविता क्यों इतनी महत्वपूर्ण है?

इस कविता के महत्व का पहला संदर्भ यह है कि यह कविता भूख के प्रभाव को बिम्बों के स्तर पर रूपायित करती है। अनाज इस कविता के केन्द्र में है। एक तरह से हम कह सकते हैं कि यह कविता अनाज केन्द्रित कविता है, दाना केन्द्रित कविता है। हम यह भी कह सकते हैं कि यह भूख केंद्रित कविता है। इस तरह चिंतन के स्तर पर जो बड़े और वायवीय प्रश्न हैं उनको यह कविता निष्कासित करती है और जीवन के छोटे किन्तु जीने के लिए जरूरी प्रसंगों को केंद्र में लाती है। इस तरह नागार्जुन इस कविता के माध्यम से एक नये काव्यशास्त्र की रचना करते हैं। इस नये काव्यशास्त्र के अनुसार सार्थक रचना का आधार है – उसमें जीवन की प्रत्यक्ष उपस्थित न कि विचार और दर्शन।

यह कविता एक तरह से मानवीय संसार और मनुष्य के अस्तित्व की भी नए तरीके से व्याख्या करती है। नागार्जुन का मनुष्य अकेला नहीं है। उसके साथ एक बहुत बड़ी दुनिया जुड़ी

हुई है। इसलिए मनुष्य का जीना उसका अकेले जीना नहीं है। जीवन के बोध को और जीवन की व्याख्या के पाठ को यह कविता अधिक विस्तृत करती है। हम देखते हैं कि इस कविता में कहीं भी मनुष्य नहीं है। (एक जगह जरूर लिखा है – 'चमक उठी घर भर की आंखें कई दिनों के बाद'।) जब कि यह कविता आदमी के बारे में हैं। इसलिए एक ऐसे समय में जब आदमी के होने और आदमी की परिभाषा की लम्बाई घट रही हो यह कविता आदमी की परिभाषा का एक तरह से पवित्र विस्तार करती है। इस दृष्टि से भी इस कविता को महत्वपूर्ण माना गया है। इस कविता में जिन पात्रों का चुनाव किया गया है उन पात्रों में सामान्यतया बेहद सामान्य पात्र हैं। कुत्ते या कुतिया का भी चुनाव किया गया तो वह विकलांग है – 'काली कुतिया'।

प्रकृति के मानवीयकरण की परम्परा कविता में बहुत पुरानी है। लेकिन यह कविता कई ऐसी चीजों का मानवीयकरण करती है जो अब तक कविता की सरहद से बाहर है। और उसमें है– "कई दिनों तक चूल्हा रोया चक्की रही उदास।" चूल्हा और चक्की का मानवीयकरण है। इस कविता में हमारे परम्परागत शब्द और परम्परागत मुहावरों का नागार्जुन मानवीयकरण करते हैं। एक तरह से यह संकेतों की कविता है नागार्जुन के काव्य स्वभाव से अलग इस कविता में हिन्दुस्तान के ग्राम्य संसार की सबसे सघन उपस्थिति है। हिन्दुस्तान की परम्परा में चूल्हे का नहीं जलना मौत की सूचना देता है। यह कविता संकेत देती है व्यक्ति के स्तर पर नहीं बल्कि एक व्यापक स्तर पर मौत का सन्नाटा है, क्योंकि अकाल है। चूल्हा और चक्की ये जीवन के वास्तविक प्रश्न हैं। ये जीवन के होने के प्रमाण हैं। पहली पंक्ति में चूल्हे और चक्की का मानवीयकरण किया गया है और इनको मात्र उपकरण के रूप में नहीं बल्कि जीवन को संभव बनाने वाली सत्ता के रूप में देखा गया है। किसी जीवन में और ग्राम्य जीवन में चीजें वस्तु के रूप में नहीं हैं बल्कि जिन्दगी के हिस्से के रूप में हैं। ये सब जीवित उपस्थितियां हैं।

इस कविता में हिन्दुस्तानी मन का संस्कार बोलता हुआ दिखाई दे रहा है। शहर के बोध से इस कविता की व्याख्या संभव नहीं है। हमारा ग्राम्य जीवन कई उपस्थितियों की देन है और उसके प्रति हमारा एक संबंध भाव है। इसलिए यहां चूल्हे का रोना जैसे आदमियों की मौत में चूल्हे की सहानुभूतिक सहभागिता है। जैसे आदमी की मौत में जड़ चीजें भी उपस्थित हैं। चैतन्य और जड़ता का विभाजन एक तरह से हमारी अकृतज्ञ चेतना का परिणाम है। जो तकलीफें, अभाव और यातना हमारी मनुष्यता का विस्तार करती है। इस कविता को इस संदर्भ में देखा जाना चाहिए। चूल्हे का रोना और चक्की का उदास होना ये दोनों भूख से मरते हुए मनुष्यों के प्रति सहानुभूति और प्रतिक्रिया से जुड़ी हुई घटनाएं हैं। लेकिन इसका मनुष्य पर जो प्रभाव है उसके बारे में सीधे सीधे

नहीं कहा गया है। कविता यह व्यंजित करती है। अगर कुतियां की, छिपकलियों की और चूहों की यह हालत है तो कविता यह व्यंजित करती है कि मनुष्य के बारे में कहने की जरूरत नहीं। यहां पर भूख एक अनिश्चयवाची विपत्ति बन कर आई है। इसलिए अन्न की स्मृति के जो केन्द्र हैं (चूल्हा या चक्की) उन पर थकी हुई कानी कुतिया है। छिपकलियां दीवारों पर गस्त लगाती हैं। यहां गस्त का अर्थ घूमने से भी है ढूंढने से भी है। चूहे कई दिनों तक पराजित हालत में रहे। भूख के कारण उपजे हुए सन्नाटे, तकलीफ और मरणशीलता की ओर इशारा करती है। इस तरह ये पंक्तियां भूख के परिणामों के आख्यान को व्यक्त करने वाली पंक्तियां हैं।

एक दूसरा संदर्भ भी इन पंक्तियों का है। ग्राम्य जीवन का भूगोल सिर्फ मनुष्यों से नहीं बनता बल्कि उसमें शेष सृष्टि की भी उपस्थिति है। जब हम इस कविता को पढ़ते हैं तो महसूस करते हैं कि हमारा सजा संवरा घर कितना छोटा और अकेला हो गया है जिसमें कोई घोंसला नहीं है। उसमें कोई गोरैया नहीं आई है। एक तरह से आत्मकेन्द्रित और निरपेक्ष जीवन की नियति और अक्षुब्धता को इन पंक्तियों में देखा जा सकता है। इसके विपरीत इस कविता में मानवीय जीवन का विस्तार इस सीमा तक है जिसमें कुत्ते, छिपकलियां, चूहे सभी शामिल हैं। इसलिए इस कविता की विपत्ति भूख की विपत्ति सिर्फ मनुष्य की नहीं है बल्कि उसके साथ जो जुड़े हुए प्राणी हैं उनकी भी है। इस प्रकार यह कविता दुख की परिभाषा एवं जीवन के भूगोल का विस्तार करती है और मनुष्य की दुनिया में अन्य उपस्थितियों की भूमिका को रेखांकित करती है।

अकाल के वातावरण का प्राणियों पर पड़ने वाले प्रभाव की तरफ संकेत करने के बाद कवि अकाल के बाद का चित्रण करता है। समय पलटता है और दाने घर के अन्दर आते हैं। इन दानों का आना किस तरह जीवन में स्फूर्ति की संभावना ले आता है। दानों के आते ही जीवन में स्पंदन की शुरूआत होती है। इस तरह यह कविता जीवन की एक भौतिकवादी व्याख्या है। इस देह को आत्मा नहीं, दाना चलाता है। दानों का घर में आना जैसे जीवन में एक नयी गति का संचार होना है। इसलिए एक गतिशील और ऐसे घर में जहां जिंदगी की वापसी हुई हो उसके बिन्दु को नागार्जुन धूएं से चित्रित करते हैं-

दाने आए घर के अन्दर कई दिनों के बाद,
धूआं उठा घर के ऊपर कई दिनों के बाद।

यहां आग और धूएं का होना जिन्दगी के होने का संकेत है। इस दाने को देखकर –'चमक उठी घर भर की आंखें कई दिनों के बाद।' आंखों में चमक लौटी और एक प्रभावशाली बिन्दु दिया है –

'कौए न खुजलाई पांखें कई दिनों के बाद'। कौए का पांखें खुजलाना उसका सक्रिय होना है। उसकी उम्मीदों का लौटना है।

प्राकृतिक उपकरणों के माध्यम से (चूल्हा, चक्की, छिपकली, कानी कुतिया, कौए और आंगन से उठता हुआ धूआं) कविता बनाई है। जीवन विरोधी स्थितियों के अभिलक्षण उपर की चार पंक्तियों में हैं। यह कविता भूख के दारूण प्रभाव की कविता है।

भूख पर कई महत्वपूर्ण कहानियां लिखी गई हैं। उनमें से 'कफन' सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। प्रेमचंद ने उस जमाने में कहा था कि भूख कितनी भी बड़ी संस्कृति को खा जाने की क्षमता रखती है। नागार्जुन की यह कविता उसी भूख की परम्परा की कविता है। भूख और भूख का मनुष्येतर प्रभाव का चित्रण इसमें किया गया है। दानों की वापसी के साथ जिंदगी की वापसी होती है। इसलिए यह कविता कविता के केन्द्र में और जीवन के केन्द्र में दाने की स्थापना करती है। यह कविता जीवन का एक नया भाष्य है जो नागार्जुन को एक लौकिक कवि के रूप में प्रतिष्ठित करती है।

नागार्जुन सामान्यतया अभिधा के कवि माने जाते हैं पर यह कविता व्यंजना की कविता है, जो दाने के माध्यम से जीवन के दोनों संदर्भों की ओर संकेत करती है। दाने की अनुपस्थिति में जीवन कैसा है और इसकी उपस्थिति में इसमें क्या बदलाव आता है। इसलिए एक निहायत सैद्धांतिक बड़बोली और अमूर्त चिंतन वाली इस व्यवस्था में यह कविता जीवन की ठोस व्याख्या करती है।

बादल को घिरते देखा है :

यह कविता नागार्जुन की प्रकृति बोध और प्राकृतिक सौंदर्य संबंधी कविता का प्रतिनिधित्व करती है। इस संबंध में एक दो चीजें ध्यान में रखने वाली हैं एक यह कि नागार्जुन की काव्यचेतना में विद्यापति और कालिदास का बहुत गहरा प्रभाव दिखाई देता है। विद्यापति ने अपने रूपवादी दृष्टिकोण को श्रृंगार से जोड़ा था। इनकी एक बहुत चर्चित पंक्ति है, मैं समूचे जीवन भर से तुम्हारे रूप को निहारता रहा लेकिन मन तृप्त नहीं हो सका। रूप मन को तृप्त न कर सके यही प्रेम के होने का प्रमाण है – 'जन्म अवधि तक रूप निहारत नयन न तिपत भेल।' अतृप्ति के लिए नागार्जुन की कविता में भी देखने का प्रसंग बहुत है। लेकिन विद्यापति ने अपनी रूपवादी दृष्टि को श्रृंगार से जोड़ा था, नागार्जुन ने उसे दुख और दारिद्र से जोड़ा। देखना दोनों स्थानों पर है। विद्यापति की लोक भूमि नागार्जुन की आत्मा में बैठी हुई है जो विद्यापति का लोक प्रभाव है। इसलिए नागार्जुन

लगातार देखते हैं। खुरदुरे पैर देखते हैं फटी हुई बिवाइयां देखते हैं और स्मृति में भी दृश्य याद आते हैं।

0 0 0 0

आधुनिक हिन्दी कविता में नागार्जुन एक बहुत चर्चित कवि हैं। उनकी कविता का संसार विविधता से भरा हुआ है। नागार्जुन का रचना संसार 50 वर्षों में फैल हुआ है। इतिहास के जिस बिंदु पर नागार्जुन ने लिखना शुरू किया था वह समय एक नयी दुनिया के निर्माण के सपने का समय था। हिटलर की पराजय, भारतीय उपमहाद्वीप की आजादी तथा चीनी क्रांति आदि घटनाओं ने विश्व जनता के मन में आशा और उल्लास का संचार किया था। नागार्जुन का जवान मन इन्हीं घटनाओं और परिस्थितियों के बीच निर्मित हुआ था।

नागार्जुन ने अपनी काव्यानुभूति के संबंध में कहा है **'तरल आवेगों वाला अतिभावुक हृदयधर्मी मैं जनकवि।'** नागार्जुन की काव्य चेतना का आधार तरल आवेग, हृदयधर्मिता और जनवादिता है। नागार्जुन की कवितायें आवेग, हृदयधर्मिता, जनवादिता के अन्तर्लयन की कवितायें हैं।

नागार्जुन का रचनाकाल लगभग आधी शताब्दी में फैल हुआ है एवं इस कालखंड में लिखी गयी रचनायें भारतीय समाज के इतिहास, भारत के साधारण आदमी का संघर्ष, उसके सपनों का मानचित्र विकसित करती है। यदि बीसवीं शताब्दी के प्रथम चार दशकों के भारत को जानना हो तो प्रेमचन्द को पढ़ना होगा और यदि उत्तरार्द्ध के भारत को, तो नागार्जुन को। नागार्जुन की कविता स्वातंत्र्योत्तर भारत के इतिहास की जनगाथा के रूप में रेखांकित है। भारतीय स्वाधीनता की लड़ाई इतिहास के एक विशेष बिंदु पर समाप्त हो गयी थी। लेकिन वह नागार्जुन की कविता में निरंतर जारी रही क्योंकि देश की साधारण जनता के लिए आजादी एक टूटता हुआ स्वप्न थी। नागार्जुन इस देश की संघर्षशील गरीब जनता के सबसे समर्थ काव्यात्मक प्रवक्ता हैं। इसलिए उनकी काव्य-चेतना में इसी साधारण जनता की आँख से देखे हुए भारत की तस्वीर एवं सत्ता की हकीकत दर्ज हुई है।

राम राज्य में रावण अब भी नंगा होकर नाचा है।
सूरत सकल वही है बदला केवल ढांचा है।।

इससे पता चलता है कि स्वाधीन भारत की सत्ता का चरित्र पूर्णतः औपनिवेशिक है। गांधी को सिर्फ प्रतीक में बदल दिया गया है। पूरी भारतीय सत्ता व्यवस्था गांधी के पर्दे में अपने चरित्र को छुपाती है।

राजघाट पर बापू की बेदी के आगे अश्रु बहाओ
तेरा घी की चहबच्चों में, अमरीत की बेंदी में बाबू खूब नहाओ।।

यह प्रश्न प्रभुवर्गीय सत्ता से भारत के साधारण आदमी द्वारा पूछा गया प्रश्न है। नागार्जुन की कविता आधुनिकता की प्रचलित अवधारणा और उसके प्रतिमानों को चुनौती देने वाली कविता है। वह लोकचेतना से संपन्न और आधुनिक दृष्टि से सम्पन्न है। इसीलिए इस कविता में एक ओर जनकविता की प्रखर उत्तेजना है तो दूसरी ओर रोमांटिक भावबोध से अलग क्लासिक कविता का अनुशासन तथा कठोरता भी है।

नागार्जुन की काव्यचेतना के आयाम :

आधुनिक हिंदी कविता में नागार्जुन की पहचान एक राजनीतिक कवि के रूप में की गयी है। उनकी कविता में तेलंगाना के क्रांतिकारी आंदोलन से लेकर अब तक के विभिन्न जनांदोलनों की प्रभावशाली अभिव्यक्ति हुई है। स्वाधीनता आंदोलन के साथ सामंतवाद तथा साम्राज्यवाद के विरोध की जो चेतना निर्मित हुई थी उसकी सबसे प्रभावशाली अभिव्यक्ति नागार्जुन की कविता में है। नागार्जुन की कविता के आधार पर 1940 के भारतीय समाज की राजनीतिक चेतना का इतिहास लिखा जा सकता है। राजनीति नागार्जुन की कविता का प्रमुख सन्दर्भ इसलिए भी है कि वह सारी जीवन व्यवस्था, सामाजिक ढांचे, आर्थिक, सांस्कृतिक नीतियों का नियामक बन गयी है।

नागार्जुन की कवितायें राजनीतिक घटनाओं को महज सतह पर छूने वाली कवितायें नहीं हैं। आधुनिक हिन्दी कविता में राजनीतिक चेतना के तीन बड़े कवि हैं - नागार्जुन, मुक्तिबोध, रघुबीर सहाय। नागार्जुन की कवितायें मुक्तिबोध की गहन विचारशीलता के स्थान पर अनुभवजन्य भावावेग से भरी हुई हैं। नागार्जुन ने केवल राजनीतिक घटनाओं, व्यक्तियों, आंदोलनों पर ही कविता नहीं लिखी बल्कि सामाजिक जीवन की रूढ़ियों, परंपराओं, मूल्यों, जिन्दगी की आदतों के राजनीतिक अभिप्रायों की खोज

भी की है। नागार्जुन की कविताओं की मूल पहचान अनुभवजन्य भावावेग है। इसलिए नागार्जुन भारतीय जनता की राजनीतिक आकांक्षाओं को व्यक्त करने वाले कवि है। नागार्जुन का केन्द्रीय सरोकार **भारतीय जनता की आकांक्षाओं को व्यक्त** करना है।

एक जनकवि के रूप में नागार्जुन खुद को जनता के प्रति जवाबदेह समझते हैं न कि किसी राजनीतिक पार्टी के। भारतीय जनता की राजनीतिक आकांक्षा के अनुरूप चीन, रूसी की कड़ी भर्त्सना अपनी कविताओं में करते हैं। नागार्जुन अपने को दलीय राजनीति की प्रतिबद्धता से अलग करते हैं।

जनता मुझसे पूछ रही है क्या बतलाऊं
जनकवि हूं मैं साफ कहूंगा क्यों हकलाऊं।

साफगोई, स्पष्टता जनता के प्रति विभ्रांत, संशयविहीन प्रतिबद्धता से पैदा हुई है। **मैनेजर पाण्डेय** कहते हैं कि **जो लोग राजनीति व साहित्य में सुविधा के सहारे जीते हैं वे दुविधाओं की भाषा बोलते हैं। नागार्जुन में कहीं भी दुविधा नहीं है।** नागार्जुन की राजनीतिक कविताओं का चरित्र और आकांक्षायें स्पष्ट हैं। वह अपने समय और समाज की परिवर्तनकारी आकांक्षाओं को अभिव्यक्ति देती है। नागार्जुन की राजनीतिक चेतना के तीन धरातल हैं।

पहले धरातल पर उनकी कवितायें **सत्ता के सनातन चरित्र की व्याख्या** करती हैं :

जली ठूंठ पर बैठकर गई कोकिला कूक
बाल न बांका कर सकी शासन की बंदूक
खड़ी हो गई चॉप कर कंकालों की हूक
नभ में विपुल विराट-सी शासन की बंदूक।

इस कविता में नागार्जुन ने सत्ता के दमनकारी तथा आतंककारी चरित्र को उद्घाटित किया है। यह जो शासन का आतंक है, धरती से आसमान तक फैला है। धरती यथार्थ है, आसमान स्वप्न है। **मनुष्य के सपनों तक में शासन का आंतक** होता है। सत्ता से जुड़े प्रतिष्ठानों को सत्ता अपने हित में संचालित करती है। नागार्जुन की अनेक कवितायें **सत्ता की सर्वभक्षी सर्वव्यापकता** को अभिव्यक्ति देती हैं।

नागार्जुन की कुछ कवितायें विशुद्ध रूप से विचारात्मक हैं जिसमें उन्होंने साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद का विरोध किया है। भारत राजनीति का चरित्र आजादी के बाद भी औपनिवेशिक गुलामी के गिरफ्त में है। इस गुलाम मानसिकता को लेकर नागार्जुन में बहुत आक्रोश हैं। इस आक्रोश की अभिव्यक्ति नागार्जुन ने व्यंग्य के रूप में की है।

आओ रानी हम ढोयेंगे पालकी
यही राय है जवाहर लाल की।

नेहरू का शासनकाल समाज के मूल्यों के गिरने का काल है। इसीलिए पूंजीवाद, साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद जिस राजनीतिक चरित्र को जन्म देता है उस पर नागार्जुन की बेधक कवितायें निर्मित हुई हैं। इस तरह की कविताओं में नागार्जुन ने स्वाधीन भारत के **राजनीतिक चरित्र को उद्घाटित** किया है। नागार्जुन के अनुसार भारतीय राजनीति का समूचा चरित्र जनविरोधी है।

लूट पाट के काले धन की करती है रखवाली
पता नहीं दिल्ली की देवी गोरी है या काली।

इस प्रक्रिया में नागार्जुन ने **प्रजातंत्र, वंशवाद, घोषणा-आश्वासनवाद**, ऐसी स्थितियों की भी चर्चा की है। नागार्जुन की ऐसी कवितायें स्वाधीन भारत की जनता के आक्रोश और उनकी मनोस्थिति को अभिव्यक्त करती हैं। नागार्जुन ने अपनी कविता **'चिड़ियाघर'** में राजनीतिक व्यक्तियों के समूचे सामूहिक चरित्र को व्यक्त किया है :

देखा सबने चिड़ियाखाना
सुना चीखना और चिल्लाना
धवल टोपियां फेंक रहे थे
मरार गद्दों से रेंक रहे थे
धोती कुर्ते में थे हाथी
सूअर ऊंट थे जिनके साथी।

भी की है। नागार्जुन की कविताओं की मूल पहचान अनुभवजन्य भावावेग है। इसलिए नागार्जुन भारतीय जनता की राजनीतिक आकांक्षाओं को व्यक्त करने वाले कवि है। नागार्जुन का केन्द्रीय सरोकार **भारतीय जनता की आकांक्षाओं को व्यक्त** करना है।

एक जनकवि के रूप में नागार्जुन खुद को जनता के प्रति जवाबदेह समझते हैं न कि किसी राजनीतिक पार्टी के। भारतीय जनता की राजनीतिक आकांक्षा के अनुरूप चीन, रूसी की कड़ी भर्त्सना अपनी कविताओं में करते हैं। नागार्जुन अपने को दलीय राजनीति की प्रतिबद्धता से अलग करते हैं।

जनता मुझसे पूछ रही है क्या बतलाऊं
जनकवि हूं मैं साफ कहूंगा क्यों हकलाऊं।

साफगोई, स्पष्टता जनता के प्रति विभ्रांत, संशयविहीन प्रतिबद्धता से पैदा हुई है। **मैनेजर पाण्डेय** कहते हैं कि **जो लोग राजनीति व साहित्य में सुविधा के सहारे जीते हैं वे दुविधाओं की भाषा बोलते हैं। नागार्जुन में कहीं भी दुविधा नहीं है।** नागार्जुन की राजनीतिक कविताओं का चरित्र और आकांक्षायें स्पष्ट हैं। वह अपने समय और समाज की परिवर्तनकारी आकांक्षाओं को अभिव्यक्ति देती है। नागार्जुन की राजनीतिक चेतना के तीन धरातल हैं।

पहले धरातल पर उनकी कवितायें **सत्ता के सनातन चरित्र की व्याख्या** करती हैं :

जली ठूंठ पर बैठकर गई कोकिला कूक
बाल न बांका कर सकी शासन की बंदूक
खड़ी हो गई चॉप कर कंकालों की हूक
नभ में विपुल विराट-सी शासन की बंदूक।

इस कविता में नागार्जुन ने सत्ता के दमनकारी तथा आतंककारी चरित्र को उद्घाटित किया है। यह जो शासन का आतंक है, धरती से आसमान तक फैला है। धरती यथार्थ है, आसमान स्वप्न है। **मनुष्य के सपनों तक में शासन का आंतक** होता है। सत्ता से जुड़े प्रतिष्ठानों को सत्ता अपने हित में संचालित करती है। नागार्जुन की अनेक कवितायें **सत्ता की सर्वभक्षी सर्वव्यापकता** को अभिव्यक्ति देती हैं।

नागार्जुन की कुछ कवितायें विशुद्ध रूप से विचारात्मक हैं जिसमें उन्होंने साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद का विरोध किया है। भारत राजनीति का चरित्र आजादी के बाद भी औपनिवेशिक गुलामी के गिरफ्त में है। इस गुलाम मानसिकता को लेकर नागार्जुन में बहुत आक्रोश है। इस आक्रोश की अभिव्यक्ति नागार्जुन ने व्यंग्य के रूप में की है।

आओ रानी हम ढोयेंगे पालकी
यही राय है जवाहर लाल की।

नेहरू का शासनकाल समाज के मूल्यों के गिरने का काल है। इसीलिए पूंजीवाद, साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद जिस राजनीतिक चरित्र को जन्म देता है उस पर नागार्जुन की बेधक कवितायें निर्मित हुई हैं। इस तरह की कविताओं में नागार्जुन ने स्वाधीन भारत के **राजनीतिक चरित्र को उद्घाटित** किया है। नागार्जुन के अनुसार भारतीय राजनीति का समूचा चरित्र जनविरोधी है।

लूट पाट के काले धन की करती है रखवाली
पता नहीं दिल्ली की देवी गोरी है या काली।

इस प्रक्रिया में नागार्जुन ने **प्रजांतत्र, वंशवाद, घोषणा-आश्वासनवाद**, ऐसी स्थितियों की भी चर्चा की है। नागार्जुन की ऐसी कवितायें स्वाधीन भारत की जनता के आक्रोश और उनकी मनोस्थिति को अभिव्यक्त करती हैं। नागार्जुन ने अपनी कविता **'चिड़ियाघर'** में राजनीतिक व्यक्तियों के समूचे सामूहिक चरित्र को व्यक्त किया है :

देखा सबने चिड़ियाखाना
सुना चीखना और चिल्लाना
धवल टोपियां फेंक रहे थे
मरार गदहों से रेंक रहे थे
धोती कुर्ते में थे हाथी
सूअर ऊंट थे जिनके साथी।

नागार्जुन की कविताओं की राजनीतिक चेतना जहां एक तरफ सत्ता के चरित्र का उद्घाटन करती है, दूसरी तरफ आजादी के बाद के भारतीय नेताओं व प्रजातंत्र की पोल खोलती है वहीं तीसरी तरफ आंदोलन धर्मी है।

नागार्जुन की राजनीतिक कवितायें **आंदोलनधर्मी** कवितायें हैं। वे राजनीति के केवल द्रष्टा कवि नहीं हैं बल्कि वे आंदोलनों में शरीक भी रहे हैं। राजनीतिक आंदोलनों में भागीदारी उनकी राजनीतिक काव्यानुभूति का ही हिस्सा है। इसीलिए नागार्जुन की कविता में तेलंगाना से लेकर अनेक आंदोलनों की अनुगूंज सुनाई पड़ती है।

झूठ मूठ के सुजलां सुफलां गीत न गायेंगे
दाल भात तरकारी भरपेट खायेंगे।

यह शोषणकारी व्यवस्था दूर तक चलने वाली नहीं है। जो खेती करेगा खेत उसका होगा। यह प्रक्रिया तेलंगाना में शुरू हो गई है। जयप्रकाश की संपूर्ण क्रांति आंदोलन तथा उसकी विफलता को भी अपनी कविताओं में चित्रित किया है। उनकी राजनीतिक कवितायें किसी आंदोलन को धर्म की तरह स्वीकार नहीं करतीं। आंदोलन के विफल होने पर नागार्जुन की कवितायें उसकी आलोचना भी करती हैं।

खिचड़ी विप्लव देखा हमने
. . . . . .

नागार्जुन आंदोलन की विचारधारा ग्रहण करते फिर छोड़ते हैं। उनकी जवाबदेही जनता के प्रति है किसी व्यक्ति या राजनीतिक आंदोलन के प्रति नहीं।

उनकी राजनीतिक कविताओं का एक बड़ाभाग **राजनीतिक व्यक्तियों** पर है। नागार्जुन ने गांधी, नेहरू, विनोबा भावे, जयप्रकाश, इन्दिरा गांधी, माओ, दलाई लामा पर कवितायें लिखी हैं। ये कवितायें स्तुतिपरक नहीं बल्कि इन कविताओं में उन राजनीतिक व्यक्तियों के जीवन के अंधकार को उद्घाटित किया गया है।

नागार्जुन की राजनीतिक कवितायें स्वाधीन भारत के राजनीतिक चरित्र, जनता के मोहभंग, आक्रोश की मीमांसा की कवितायें हैं।

प्रकृति :

नागार्जुन ने जिस गहराई और सामर्थ्य से राजनीतिक पर लिखा है, वही गहराई और व्यापकता उनकी **प्रकृति** संबंधी कविताओं में भी दिखाई देती है। नागार्जुन प्रकृति की सुंदरताओं का गतिशील वस्तुपरक और भावपूर्ण वर्णन करते हैं। एवं उसे भारतीय किसानी-जीवन की सरलता से भर देते हैं। डा0 **नामवर सिंह** ने कहा है कि नागार्जुन में प्रकृति का सहजबोध एक किसान की तरह है। **वर्षा और बादल** नागार्जुन की कविता में सबसे प्रिय उपस्थितियां हैं। वर्षा और बादलों पर इतनी अधिक कवितायें निराला के बाद नागार्जुन ने ही लिखी हैं। एक तरफ उनकी कविता में **अमल धावल शिखरों पर बादल को घिरते देखा** है तो दूसरी ओर **धिन-धिन या धमक-धमक बजते हुए मेघों की दुनिया** है। वर्षा के आगमन पर ऋतुसंधि का सहज बोध नागार्जुन को एक किसान की तरह होता है और कविता में उनके पूर्वसंचित किसानी संस्कार सहजता के साथ फूट पड़ते हैं। इस प्रसंग में जुगनुओं पर लिखी कविता द्रष्टव्य है -

गीला भादों
रैन अमावस
कैसे ये नीलम उजास के
अच्छत छींट रहे हैं जंगल में।

नागार्जुन की राजनीतिक कवितायें कविता के परंपरागत सौंदर्यबोध में हस्तक्षेप करती हैं। नागार्जुन की कविताओं में प्रकृति के **सौन्दर्य की सात्विकता, दिव्यता का निषेध** है। वे सौंदर्य को जीवन की साधारणता से संपृक्त करते हैं।

पीपल के पत्तों पर फिसल रही चाँदनी
नालियों में भीगे हुए पेट पर, पास ही
जल रही, घुल रही, पिघल रही चाँदनी
पिछवाड़े बोतल के टुकड़ों पर
चमक रही, दमक रही, मचल रही चाँदनी।

नागार्जुन ने प्रकृति सौन्दर्य की **आभिजात्य दृष्टि को तोड़** दिया। प्रकृति के सौन्दर्य चित्रण में उसकी दिव्यता का निषेध किया है। नागार्जुन वस्तुतः जीवन की समग्रता के कवि हैं। इसीलिए उनकी कविता का एक पक्ष जहां राजनीति है दूसरा पक्ष अनिवार्यतः प्रकृति है। प्रकृति, राजनीति और प्रेम साधारण मनुष्य के जीवन में अविभक्त है। नागार्जुन अकेले ऐसे कवि नहीं हैं जिन्होंने सार्थक राजनीतिक कविताओं के साथ-साथ प्रेम और प्रकृति पर भी कवितायें लिखी हैं। इस क्रम में पाब्लो नेरूदा, बर्तोल्त ब्रेख्त, मायकोवस्की के साथ नागार्जुन खड़े नजर आते हैं। नागार्जुन की प्रकृति पर लिखी कवितायें उनके सामाजिक व्यापक अनुभव एवं संवेदनशीलता से जुड़ी हैं। इसीलिए उनकी प्रकृति संबंधी कविताओं में **परंपरा की स्मृति** और **मानवीयता** के उन **पक्षों की रक्षा** का भाव है जो आज के समाज में धीरे-धीरे लुप्त होती जा रही है।

शत-शत निर्झर-निर्झरणी कल
मुखरित देवदारु कानन में।

'**बादल को घिरते देखा है**'. कविता में **मिथकीय बिंब** का प्रभावशाली चित्रण किया गया है। प्रकृति वर्णन के सारे उपकरण वैदिक हैं, कोई भी आधुनिक नहीं यथा त्रिपटी, मृगछाल, कुंतल, द्राक्षासव आदि।

परंपरा और मिथकीय स्मृति की रक्षा नागार्जुन की कविताओं में दिखाई देती है। बिंब एक तरफ अनुभव से ग्रहण किये गये तो दूसरी तरफ स्मृति से। अनुभव एवं स्मृति के विस्तार में प्रकृति को एक रचनात्मक प्रसंग की तरह नागार्जुन चित्रित करते हैं। वे प्रकृति के माध्यम से मनुष्य के अंतरंग व स्थायी स्मृति को सुरक्षित बनाना चाहते हैं। इसलिए यह कविता कवि की **भारतीय चेतना** को उद्घाटित करती है।

इस तरह नागार्जुन की कविता आधुनिक हिन्दी की परंपरा में प्रकृति को एक विशेष रचनात्मक बिंदु पर चित्रित करती है और मनुष्य के अनुभव तथा कवि की कविता में उसके महत्व को प्रतिष्ठित करती है।

राजनीति एवं प्रकृति के साथ **व्यंग्य-चेतना** नागार्जुन की कविता की विशेष पहचान है। **डा0 नामवर सिंह** ने कहा है कि कबीर के व्यंग्य के बाद नागार्जुन व्यंग्य के सर्वाधिक प्रभावशाली कवि हैं। उन्होंने नागार्जुन को **आधुनिक कबीर** कहा है। नागार्जुन सामाजिक जड़ता, शोषण, दमन तथा राजनीतिक दुर्व्यवस्था की तीखी आलोचना के लिए व्यंग्य का प्रयोग करते हैं। उनके व्यंग्य का उद्देश्य वर्तमान समाज व्यवस्था को बदलकर शोषण और दमन से मुक्त एक नये समाज व्यवस्था की रचना है। नागार्जुन की कविता में अनेक स्थानों पर व्यंग्य मुखर एवं आवेगमय है। कहीं-कहीं अर्थ की व्यंजना है। शासन की बंदूक, 'मंत्र' जैसी कवितायें व्यंग्य की सूक्ष्मता के सफल उदाहरण हैं। नागार्जुन के पास एक सजग एवं आलोचकीय दृष्टिकोण है जिसके सहारे वे सत्ता के छद्म को बेधते हैं। उनकी बहुत सारी कवितायें मौन के एक विशेष विधान में सत्ता के चरित्र और आतंक को उद्घाटित करती हैं।

बस सर्विस बंद थी
तीन दिन, तीन रात

तीन दिन, तीन रात कोई सूचना नहीं है, इसमें कर्फ्यू के तनाव व आतंक को व्यक्त किया गया है।

'हरिजनगाथा' आगामी भारत में **दलित शक्ति के उभार** की भविष्यवाणी की कविता है। दलित शक्ति के संगठित होने की आकांक्षा और संकेत इस कविता के भीतर मौजूद है। इसलिए समकालीन भारतीय राजनीति में जो दलित शक्ति तथा उसके उभार की स्थिति है वह हरिजनगाथा की आकांक्षा के अनुरूप है। इसलिए हरिजनगाथा गहरी सामाजिक संवेदनशीलता से समय की दहकती वास्तविकता का साक्षात्कार करती है तथा भावी राजनीति की पहचान भी :

अरे भगाओ इस बाल को
होगा यह भारी उत्पाती
जुलुम मिटाएंगे धरती से
इसके साथी और संघाती।

भूख नागार्जुन की कविता का एक महत्वपूर्ण प्रसंग है। भूख को हटाकर दलित का पूरा चित्र नहीं बनाया जा सकता। दलित वर्णव्यवस्था का एक अंग मात्र नहीं है। वह **अभाव, शोषण, दमन,**

दरिद्रता का प्रसंग व **जीवित बिंब** है। नागार्जुन हिन्दी के उन विरल कवियों में हैं जिन्होंने **भूख पर कविता** लिखी है। इस दृष्टि से **'अकाल और उसके बाद'** नागार्जुन की ही नहीं, हिंदी की भी एक महत्वपूर्ण कविता है। भूख और प्रशासन के रिश्ते पर भी नागार्जुन ने **वह तो था बीमार** कविता लिखी-

मरो भूख से फौरन आ धमकेगा थानेदार
लिखवा लेगा कि वह तो था बीमार।।

भूखजन्य विडंबना, सामाजिक सच्चाई को व्यंग्यपूर्ण तल्खी के साथ नागार्जुन ने तीन कविताओं में चित्रित किया - **अकाल और उसके बाद, प्रेत का बयान** एवं **वह तो था बीमार**। प्रेत का बयान कविता में गहरे व्यंग्य के माध्यम से यमराज के दरबार को भारत सरकार में तब्दील किया है।

अकाल और उसके बाद कविता में कहीं भी मनुष्य नहीं है। प्राणियों, कुछ वस्तुओं एवं एक घर की उपस्थिति है। कानी कुतिया, छिपकली, कौआ, चूल्हा चक्की आदि इस कविता में मौजूद हैं। भूख की भयावहता को नागार्जुन ने प्राणियों, वस्तुओं के माध्यम से व्यंजित किया है। इस कविता में अन्न जीवन का प्रतीक है, वह ब्रह्म से भी अधिक अनिवार्य है। अन्न संबंधों का आधार है। इसीलिए संस्कृति, आध्यात्म तथा दर्शन की सभी अवधारणायें अन्न की तुलना में वायवीय हैं।

अन्न जीवन के संबंधों का मूलसूत्र है। दाना एक संबंध जाल है जहां दाने के महत्व को रेखांकित किया गया है। मनुष्य व मनुष्येतर प्राणी के संबंधों का केन्द्र भी दाना है। इस संबंध को नागार्जुन ने मानवीय जीवन के व्यापक धरातल पर उद्घाटित किया है। घर की अवधारणा मूलतः संबंधबोध पर ही आधारित है। संबंध में कानी कुतिया, छिपकली, चूहिया, कौआ सभी हैं। इस कविता में नागार्जुन ने संबंधों को व्यापक जमीन एवं घर का व्यापक भूगोल चित्रित किया है। बेहतर जीवन संबंध में निजी वस्तुएं भी मौजूद हैं। यह संबंधों के घनत्व की कविता है। अन्न का अभाव केवल मनुष्य को ही नहीं, इन संबंधों को भी प्रभावित करता है।

प्रेमचन्द ने **कफन** में कहा है कि अगर हम ऐसी व्यवस्था निर्मित न कर पाये कि आदमी को भूख से निजात मिले तो समस्त मूल्य व संस्कृति नष्ट हो जायेगी एवं मनुष्य होने की योग्यता समाप्त हो जायेगी।

यह कविता भूख के सर्वव्यापी प्रभाव को आंकने वाली कविता है। मनुष्य का संसार सिर्फ उस तक ही सीमित नहीं है। यह कविता मनुष्येतर राग संबंधों का प्रमाण है। अकाल मृत्यु की भयावहता पैदा करता है, चूल्हा चक्की की उदासी से नागार्जुन ने इसी को व्यंजित किया है। अकाल के माध्यम से भूख और इसका जीवन पर पड़ने वाले प्रभाव को कलात्मक प्रतीक योजना में अभिव्यक्त किया गया है।

नागार्जुन **घर और परिवार** के भी कवि हैं। उनका परिवारबोध संपूर्ण रूप से भारतीय है। **सिंदूर तिलकित भाल, वह दंतुरित मुस्कान, गुलाबी चूड़ियां** नागार्जुन के परिवारबोध को प्रमाणित करती हैं। इन रचनाओं में भी शिल्प का बेहद कलात्मक, उत्कृष्ट रूप दिखाई देता है।

आधुनिक मनुष्य के मन में **धर्म** को लेकर जो दुविधा, असमंजस तथा द्वन्द्व की स्थितियां हैं उसकी अभिव्यक्ति की कविता में हुई है। स्वयं नागार्जुन वैदिक, पौराणिक परंपराओं के गंभीर अध्येता तथा साथ-साथ बौद्ध दर्शन से संबद्ध रहे हैं। इसीलिए नागार्जुन मनुष्य के मनोविज्ञान पर धर्म के गहरे जटिल प्रभाव से अवगत हैं। इसलिए उनकी अनेक कविताओं में आधुनिक मनुष्य के संशय को व्यक्त किया गया है।

भग्न मन जैसी कविता में धर्म के साथ आधुनिक मनुष्य के उलझाव को नागार्जुन ने व्यक्त किया है। इस कविता में नागार्जुन धर्म के प्रति परंपरागत आस्था को और ईश्वर की अवधारणा को ध्वस्त करते हुए दिखाई देते हैं। 1946 में **कल्पना का पुत्र हे भगवान** का प्रकाशन हुआ था।

परंपरागत स्तर पर ईश्वर से जो चाहा गया है नागार्जुन की मांगें उसके विपरीत है। इस तरह से यह कविता नागार्जुन के पूरे व्यक्तित्व पर प्रकाश डालती है। संशय, उलझन, संदेश, बेचैनी और भ्रम, यह वह जमीन है जहां पर खड़े होकर नागार्जुन धर्म के अंधकार का साक्षात्कार करते हैं। इसलिए धर्म संबंधी कविताओं में आस्तिकता एवं नास्तिकता का एक गहरा तनाव दिखाई देता है। वस्तुतः इस तनाव का कारण लोक जीवन से नागार्जुन की चेतना की संबद्धता है। नागार्जुन लोक चेतना के रचनाकार हैं और इसलिए उनकी कविता के सभी रूपों में लोक चेतना की यह उपस्थिति विद्यमान है।

नागार्जुन की काव्य चेतना में **जनता के स्वप्न** की भी अभिव्यक्ति हुई है। अभाव, दमन और विपत्तियों से घिरी हुई जनता, जीवन के लिए संघर्ष करती हुई जनता, उत्पीड़न की शिकार जनता की

जीवनस्थितियों के चित्रण के साथ नागार्जुन की कविता उनके स्वप्नों को भी दर्ज करती है। **चंदू मैंने सपना देखा** इस दृष्टि से उनकी प्रसिद्ध कविता है। ये सपने इतने साधारण हैं कि अभिजात्य वर्ग के लिए यह सपना नहीं है।

पंक्ति के दुहराव के साथ वाक्य के भीतर कुछ नया घटित हो जाता है। आदि से अंत तक कविता सपनों की सूची बनाती है। ये सपने साधारण हैं। कैलेण्डर समूची व्यवस्था का प्रतीक है। यह समय का नया चेहरा है, उस समय में जीने वाला समाज है, एक ऐसा समाज जिसमें चंदू भी अधिकारी बन सकता है। इसलिए यह कविता व्यवस्था के गुरुत्वाकर्षण के विरुद्ध उड़ान, मुक्ति की कविता है। अपने विधान में कहीं भी प्रतीकात्मक नहीं है।

नागार्जुन की कविता लोक चेतना की भूमि पर **साधारण मनुष्य के सपनों को शब्द** देने वाली कविता भी है। नागार्जुन के यथार्थ और स्वप्न में तनाव नहीं है। सपने यथार्थ के इतने पड़ोस में हैं कि यथार्थ और स्वप्न के बीच बहुत फासला नहीं है। ये सपने विश्वसनीय हैं। इन सपनों व यथार्थ के बीच आवाजाही है। कविता का सारा मुहावरा साधारणता के तर्क के सहारे विकसित हुआ है जिसमें व्यंग्य की हल्की थरथराहट है।

यह कविता भारतीय राष्ट्र पर प्रभु वर्ग के कब्जे का विरोध करती है। जहां हिमालय से नीचे उतरने में विद्वानों को झिझक महसूस होती है वहीं नागार्जुन की कविता सूअर तक आती है तथा उसे मादरे हिन्द की बेटी बताते हैं। यह कविता एक अछूत समझे जाने वाले जानवर को नायिका का दर्जा देती है। इस तरह से यह कविता के पारंपरिक अभिजात्य संस्कार में हस्तक्षेप करती है।

भाषा : नागार्जुन की कविताओं के विषय में जितना वैविध्य है उसकी अन्तर्वस्तु के रूपों में जितनी विविधता है उतनी ही विविधता उसके भाषिक संरचना में भी है। उनकी भाषा का **एक रूप** वह है जो 'बादल को घिरते देखा है', 'कालिदास सच-सच बतलाना' जैसी कविताओं में दिखाई देता है। इनमें क्लासिक परंपरा की भाषा है जो बेहद कलात्मक तथा तत्समी है। भाषा का **दूसरा रूप** सामाजिक जिंदगी से जुड़ी कविताओं में दिखाई देता है जैसे 'मन करता है', 'प्रेत का बयान', 'अकाल और उसके बाद' आदि कविताओं में। भाषा का यहां पूरा विन्यास लोक चेतना और उसकी आकांक्षा के अनुरूप

संवादधर्मी है। नागार्जुन की काव्यभाषा का **तीसरा रूप** राजनीतिक व्यंग्य वाली 'मंत्र' आदि कविताओं में उपस्थित है। इसमें भाषा का एक विशेष मिजाज दिखाई देता है जो आक्रोश, आक्रमण और करूणा मिश्रित है। भाषा का **चौथा रूप** आंदोलनधर्मी कविताओं में दिखाई देता है।

नागार्जुन ने मैथिली, बांग्ला, संस्कृत, हिन्दी चारों भाषाओं में कवितायें लिखी हैं। संस्कृत पर अधिकार के बावजूद संस्कृत की पैरोडी लिखी है। काव्य भाषा का एक **अन्य रूप** उनके गीतों में भी है, जहां वे विद्यापति की स्मृति जगाते हैं। इसीलिए कहा गया है कि काव्यभाषा की ऐसी अनेकरूपता या तो तुलसी के यहां है या फिर निराला के यहां दिखाई देती है।

नागार्जुन ने जनजीवन के बारे में अपनी चिंता एवं भावना को व्यापक समाज तक पहुंचाने के लिए अनेक तरह के प्रयोग किये हैं। मुक्त छंद के साथ छंद में भी कविता लिखी है। आंदोलनधर्मी कविताओं में विचारों की सटीक अभिव्यक्ति के लिए नागार्जुन लोकप्रचलित छंदों का भी प्रयोग करते हैं। हिंदी के जातीय छंद दोहा में भी नयी राजनीतिक अंतर्वस्तु का समावेश किया है। नागार्जुन ने यह सिद्ध किया कि कविता के क्षेत्र में पुराने रूप का भी नया प्रयोग हो सकता है। **मैनेजर पाण्डेय** कहते हैं कि लोक जीवन में प्रचलित छंद के भीतर नये रूपों का विकास नागार्जुन की सर्जनात्मक क्षमता का प्रमाण है। 'मंत्र' कविता इसका अद्भुत उदाहरण है जो ऊपर से सहज दिखती हुई भी अन्तर्वस्तु के स्तर पर विस्फोटक है।

श्री उत्कर्ष क्लासेज (प्रा.) लि. उत्कर्ष IAS 9826848860 9826659480 IAS/PCS

नागार्जुन बंधी बंधायी लीक के रचनाकार नहीं हैं। उनमें प्रयोग धर्मिता की अद्भुत क्षमता है। दोहा, बरवै, गीत, तुकबंदी, छंदबद्ध और छंदविहीन सभी पर नागार्जुन का स्थान अधिकार है। वे चना चोर गरम से लेकर मंत्र कविता तक के सर्जक हैं। नागार्जुन ने लोकरूपों का पर्याप्त प्रयोग किया है :

हाथी घोड़ा पालकी
जय जवाहर लाल की

गीतों से लेकर भस्मांकुर तक अनेक काव्यरूप नागार्जुन की कविताओं के भीतर उपस्थित है। उनकी काव्यचेतना तथा विधान में तात्कालिकता, पौराणिकता का अद्भुत विन्यास दिखाई देता है। एक तरफ उनकी कविता की अन्तर्वस्तु अखबार की घटनाओं से ली गयी है तो दूसरी तरफ उनकी

सूर्पणखा, रेणुका, अहिल्या शीर्षक रचनाओं ने पुरानी गाथाओं में निहित वर्तमान सत्य को उजागर किया है।

नागार्जुन के काव्य शिल्प तथा भाषा पर वर्तमान का दबाव बहुत गहरा है। हिन्दी कविता में नागार्जुन की पहचान भाषा के **व्यंग्यात्मक विधान** के कारण है। इस भाषा में एक खास तरह की मारकता एवं विनोद का भाव है।

पेट-पेट में आग लगी है, घर-घर में है फांका
यह भी भारी चमत्कार है कांग्रेस की महिमा का
गांधी टोपी की किश्ती में कलियुग हुआ सवार
पिय रोड पर मचल रही है तीस हजारी कार।।

काव्य भाषा की समूची बनावट में लोक चेतना से सबसे अधिक प्रभावित है।

छायावादोत्तर हिन्दी कविता की अन्तर्वस्तु के विस्तार व विकास में तथा हिन्दी कविता के रचना विधान को लोक जीवन से संपृक्त करने वाले कवियों में नागार्जुन सर्वाधिक महत्वपूर्ण रचनाकार हैं। नागार्जुन ने छायावादोत्तर हिंदी कविता को भारत के साधारण मनुष्य की जिंदगी से जोड़ा। इसलिए उनकी कविताएं स्वातंत्र्योत्तर भारतीय मनुष्य की आकांक्षा और संघर्ष को व्यक्त करने वाली कवितायें हैं। कविता को साधारण आदमी की चिंताओं से जोड़कर नागार्जुन ने कविता के प्रति आदमी के भरोसे का निर्माण किया और तुलसीदास की इस अवधारणा को अपनी रचनाशीलता में चरितार्थ किया कि अच्छी कविता का मूल आधार गंगा की तरह साधारण मनुष्य की मंगल कामना है।

-000-